न्यायदीपिका

हिन्दीभाषाटीकासहित ।

प्रकाशक—

श्रीजैनग्रन्थरत्नाकरकार्यालय ।

नमोऽनेकान्ताय ।

श्रीधर्मभूषणयतिविरचित

न्यायदीपिका ।

बेरनी जिला एटानिवासी पं० खूबचन्द्रजीकृत
हिन्दी भाषाटीकासहित ।

पं० वंशीधरजी शास्त्रीद्वारा संशोधित
और

श्रीजैनग्रन्थरत्नाकरकार्यालयद्वारा
निर्णयसागर प्रेस बम्बईमें मुद्रित होकर
प्रकाशित ।

श्रीवीर नि० सं० २४३९

अप्रैल १९१३.

प्रथमावृत्ति] [मूल्य ॥।)

Published by Shri Nathuram Premi, Proprietor-Shri Jain-Grantha-Ratnakar Karyalaya, Hirabag, Near C. P. Tank-Bombay.

Printed by R. Y. Shedge at the "N. S. Press' No. 23 Kolbhat Lane, Kalbadevi Road, Bombay.

निवेदन ।

जो विद्यार्थी और स्वाध्यायप्रेमी संस्कृत नहीं जानते हैं; परन्तु जैन-न्यायका साधारण स्वरूप जाननेके लिए उत्कण्ठित रहते हैं, उनके लिए न्यायदीपिकाकी यह भाषाटीका प्रकशित की जाती है। यद्यपि न्यायकी सूक्ष्म बातोंका समझना साधारण बुद्धिवालोंका काम नहीं, तो भी आशा की जाती है कि इस प्रयत्नसे भाषाकी अच्छी योग्यता रखनेवालोंको बहुत कुछ लाभ होगा।

यह टीका जैनसिद्धान्तपाठशाला मोरेनाके विद्यार्थी और न्यायवाचस्पति पं० गोपालदासजी बरैयाके प्रधान शिष्य पं० खूबचन्द्रजीने लिखी है और इसका संशोधन टीकाकारके ज्येष्ठभ्राता पं० वंशीधरजी शास्त्री, अध्यापक जैनपाठशाला शोलापुरने किया है। हमारी समझमें उक्त दोनों पण्डितमहाशयोंने इस विषयमें अच्छा परिश्रम किया है और किसी ग्रन्थकी भाषाटीका लिखनेका जो उद्देश्य है वह बहुत अंशोंमें सफल हुआ है।

न्यायदीपिकाकी पहले भी दो भाषावचनिकायें होचुकी हैं जिनमेंसे एक तो जयपुरनिवासी पं० पन्नालालजी दूनीवालोंकी बनाई हुई है और दूसरी न्यायदिवाकर पं० पन्नालालजीकी रची हुई है। इनके सिवा शायद और भी एकाध वचनिका हो; परन्तु हमको उक्त वचनिकाओंकी प्राप्ति न हो सकी। इसके सिवा वर्तमान समयमें उक्त वचनिकाओंकी एकदेशीय भाषासे सर्वसाधारणको लाभ भी नहीं पहुंच सकता है। इस लिए हमने यह नई टीका लिखवाना ही उचित समझा और हमारे खयालसे जैनियोंको अब वर्तमान हिन्दीकी प्रतिष्ठा, सुगमता और राष्ट्रीयताका विचार करके अपने शास्त्रोंको जहांतक बने इसी हिन्दी भाषामें परिवर्तन कर डालना चाहिए। जिन लोगोंका ऐसा विश्वास है कि पुरानी भाषामें ही कुछ महत्त्व और पूज्यता है, उनसे विवाद करनेकी तो हममें शक्ति नहीं; परन्तु जो लोग चाहते हैं कि हमारे शास्त्रों और तत्त्वोंका सर्वसाधारणमें बहुलतासे प्रचार हो उनकी इच्छा अब वर्तमान भाषाका आश्रय लिये विना पूर्ण नहीं हो सकती।

न्यायदीपिकाके मूलकर्त्ता श्रीधर्मभूषण यति हैं। ये दिगम्बर सम्प्रदा-

यके थे। इनका ठीक ठीक समय तो ज्ञात नहीं; परन्तु महामहोपाध्याय प० सतीशचन्द्र विद्याभूषण एम. ए. पी. एच. डी. ने इन्हें ईस्वीसन् १६०० के लगभगके विद्वान् बतलाये हैं। श्रीधर्मभूषणजीने इस ग्रन्थमें सुगत, सौगत, बुद्ध, तथागत, मीमांसक, यौग, नैयायिक, भट्ट, प्रभाकर, दिङ्नाग, समन्तभद्र, अकलङ्कदेव, शालिकानाथ, स्याद्वादविद्यापति, भट्टारक माणिक्यनन्दि, भट्टारक कुमारनन्दि, उदयन आदि विविध सम्प्रदायके आचार्योंका और प्रमेयकमलमार्तण्ड, राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक, तत्त्वार्थसूत्र, तत्त्वार्थभाष्य, आप्तमीमांसाविवरण, न्यायविनिश्चय, प्रमाणनिर्णय, प्रमाणपरीक्षा, परीक्षामुख, न्यायबिन्दु आदि ग्रन्थोंका उल्लेख किया है। अर्थात् इन सब ग्रन्थकर्त्ताओं और ग्रन्थोंके वे पीछे हुए हैं और उपाध्याय श्रीयशोविजय गणिने अपनी तर्कभाषा नामक पुस्तकमें इनका उल्लेख किया है:—

"इत्थं वा ज्ञाननिवर्तकत्वेन तर्कस्य प्रामाण्यं धर्मभूषणोक्तं सत्येव, तत्र मिथ्याज्ञानरूपे व्यवच्छेद्ये संगच्छते।"

अर्थात् श्रीयशोविजयजीसे वे पहले हुए हैं। उल्लिखित आचार्यों और यशोविजयजीके समयका विचार करके ही मालूम होता है कि विद्याभूषण महाशयने उक्त समय निश्चित किया है।

धर्मभूषण यति संभवतः नन्दिसंघके आचार्य थे। इनका बनाया हुआ प्रमाणविस्तार नामका एक ग्रन्थ और भी है; परन्तु वह हमारे देखनेमें नहीं आया। इनके सिवा और भी कोई रचना इन्होंने की है या नहीं, यह मालूम न हो सका।

इस ग्रन्थके तीन प्रकाश या अध्याय हैं:—प्रमाणसामान्यलक्षण, प्रत्यक्ष और परोक्ष। परोक्षज्ञानमें स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान, आगम और नय गर्भित किये हैं। न्यायके पारिभाषिक शब्दोंके लक्षण और उनका विवेचन इसमें बड़ी ही उत्तमता और बारीकीसे किया है। इसलिए प्रारंभके विद्यार्थियोंके लिए यह ग्रन्थ बहुत ही उपयोगी है। अन्य सिद्धान्तोंका विशेषकरके बौद्धोंका खंडन तो इसमें खूब ही किया है। यह विषय जुदा जुदा सिद्धान्तोंका विचार करनेके लिए बहुत कामका है। इस ग्रन्थकी रचना और संस्कृत भी बहुत ही सुन्दर है। **प्रकाशक।**

विषयसूची।

प्रथम प्रकाश।

	पृष्ठ.	पंक्ति.
मङ्गलाचारके प्रयोजन.	१	५
मङ्गल.	२	३
ग्रन्थारंभका उपोद्धात.	२	११
उद्देशका लक्षण.	४	७
लक्षणका लक्षण तथा प्रकार.	४	७
नैयायिकोक्त लक्षणका लक्षण.	५	१५
और उसका खण्डन.	५	२०
अव्याप्ति, अतिव्याप्ति, असंभवका लक्षण.	६	१७
परीक्षाका लक्षण.	७	२४
प्रमाणसामान्यका लक्षण.	८	१५
प्रमाणलक्षणगत 'सम्यक्' शब्दकी सफलता.	८	१७
संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय-मिथ्या ज्ञानोंका लक्षण. ...	९	३
प्रमाणलक्षणगत 'ज्ञान' शब्दकी सार्थकता प्रमाणके लक्षणको इंद्रियादिकमें चले जानेकी शंका.	१२	३
इस शंकाका परिहार.	१२	६
प्रमाण लक्षणको भट्टद्वारा मानेहुए धारावाही ज्ञानमें अतिव्याप्त होनेकी आशंका.	१४	१६
इसका उत्तर.	१४	१८
दृष्टवस्तु विस्मृत होजानेपर उसको फिरसे जाननेवाला ज्ञान प्रमाण न होना चाहिये ऐसी शंका और इसका समाधान.	१५	१६
प्रमाणलक्षणकी निर्विकल्पज्ञानमें अतिव्याप्ति होनेसे रोकना.	१५	१९
प्रमाणमें प्रमाणपना क्या है?	१७	१८

	पृष्ठ.	पंक्ति.
प्रमाणपनेकी उत्पत्ति स्वयमेव होती है इस मीमांसकमतका मण्डन खण्डन.	१७	१९
प्रमाणताकी ज्ञप्ति कैसे?	१९	२४
प्रमाणताज्ञप्तिको पराधीन माननेवाले यौगमतका पूर्वोत्तरपक्ष.	२१	१५
बौद्धके प्रमाणलक्षणमें दोष.	२२	१६
भट्टमतानुसार प्रमाणलक्षणमें दोष.	२३	२०
प्रभाकरके प्रमाणलक्षणमें दोष.	२४	१०
नैयायिकके प्रमाणलक्षणमें दोष.	२५	६
अंतमें पूर्ण निष्पन्न प्रमाणलक्षणका स्वरूप.	२६	८
द्वितीय प्रकाश।		
प्रत्यक्षप्रमाणका लक्षण.	२७	१
'विशद' शब्दका अर्थ.	२७	९
बौद्धके निर्विकल्पक ज्ञानको प्रत्यक्षप्रमाण माननेमें दोष.	२८	११
अर्थ, आलोक ज्ञानके कारण नहीं हैं.	२९	१
अर्थसे अजन्य ज्ञानको अर्थप्रकाशक होसकनेका निरूपण.	३०	२६
अर्थग्रहणमें योग्यता क्या है?	३१	२२
ज्ञानमें अर्थाकार होनेका खण्डन....	३१	२४
यौगके प्रत्यक्षलक्षणका खण्डन.	३२	३
चक्षुके अप्राप्यकारी होनेमें पूर्वोत्तर पक्ष.	३३	१
प्रत्यक्षके दो भेद और प्रथमभेदके अवग्रहादि चार भेद.	३५	१६
अवग्रह-ज्ञानका लक्षण.	३६	१
ईहा-ज्ञानका लक्षण.	३६	२४
अवाय, धारण ज्ञानोंका लक्षण	३७	१
ईहादि ज्ञानोंमें अपूर्व विषयकी सिद्धि.	३७	१८
प्रथमभेदके 'सांव्यवहारिक' नामकी सार्थकता.	३८	१०
दूसरे भेद पारमार्थिकका लक्षण तथा अवधि आदि तीन भेदोंका वर्णन.	३९	१४

	पृष्ट.	पंक्ति.
कैवल्यज्ञानका लक्षण.	४०	१३
अवधि, मनःपर्यय ज्ञानोंमें पारमार्थिकत्वकी शंका तथा समाधान.	४१	१
इंद्रियजन्य ज्ञान ही प्रत्यक्ष हो सकता है यह शंका तथा इसका समाधान.	४२	१
अतीन्द्रिय ज्ञानको 'प्रत्यक्ष' शब्दद्वारा बोलनेका हेतु. ...	४२	२०
अर्हत् सर्वज्ञ सिद्ध करना....	४४	१२
सर्वज्ञके ज्ञानको अतीन्द्रिय होनेका हेतु.	४७	४
अर्हन्को निर्दोष दिखाना.	४८	२०
कपिलादिके सर्वज्ञ होनेमें बाधा.	४९	११

तीसरा प्रकाश ।

परोक्षप्रमाणका लक्षण.	५१	१
नैयायिकोंके परोक्षलक्षणमें दोष.	५१	१३
परोक्षके स्मरणादि पांच भेद.	५२	१७
स्मरणका स्वरूप.	५३	१५
स्मरणको अगृहीतग्राही दिखाना.	५४	११
प्रत्यभिज्ञानका लक्षणभेद.	५५	२४
प्रत्यभिज्ञानको प्रत्यक्षादिसे जुदा सिद्ध करना.	५७	९
उपमान प्रमाणका प्रत्यभिज्ञानके अन्तर्हित होना. ...	६०	२०
तर्कज्ञान तथा व्याप्तिका स्वरूप.	६१	१३
प्रत्यक्षादिसे इसकी भिन्नसिद्धि.	६३	६
अनुमानका लक्षण.	६५	१२
नैयायिकोंके अनुमानलक्षणमें दोष.	६६	४
हेतुका लक्षण.	६८	१
अनुमानके साध्यका लक्षण.	६८	१६
अनुमानके दो भेद.	७०	११
स्वार्थानुमानके अंग.	७१	७
तीनप्रकारके अनुमान स्थलोंका वर्णन.	७२	१२

	पृष्ठ.	पंक्ति.
परार्थानुमानका लक्षण.	७४	२२
नैयायिकोंके परानुमानका खण्डन.	७५	८
परार्थानुमानके दो अवयवोंका वर्णन.	७५	१२
नैयायिकोंके पांच अवयवोंका प्रतिपादन.	७७	५
इस पक्षका खण्डन.	७९	८
प्रतिज्ञा अवयवको मानने न माननेके विषयमें बौद्धमतानुसार पूर्वोत्तर पक्ष.	८१	१४
बौद्धोक्तहेतुलक्षणका स्वरूप और पक्षधर्मत्वादि तीन हेत्ववयवोंका वर्णन.	८३	९
इस मतका खण्डन.	८४	१४
नैयायिकोंके हेतुके पांच अंगोंका वर्णन....	८५	३
नैयायिकमतानुसार पांच हेत्वाभासोंका वर्णन.	८७	३
नैयायिकोक्त हेतुअवयवोंका खण्डन.	८९	१९
अन्वयव्यतिरेकी हेतुका स्वरूप.	९०	७
केवलान्वयी हेतुका स्वरूप.	९१	६
केवलव्यतिरेकीका स्वरूप....	९२	१
हेतुके 'विधि' प्रतिषेध दो भेदोंका सोदाहरण वर्णन. ...	९९	१
हेत्वाभासका लक्षण और भेद.	१०४	९
उदाहरणका लक्षण.	१०९	४
उदाहरणाभास.	१११	१५
'व्याप्य, व्यापक' शब्दोंका अर्थ....	११२	३
नैयायिकोक्त उपाधिके लक्षणका खण्डन.	११६	५
उपनयका लक्षण.	११६	८
निगमनका लक्षण....	११६	९
आगमप्रमाणका लक्षण.	११७	८
लक्षणगत प्रत्येक पदकी सफलता.	११७	९
आप्तका लक्षण.	११९	७

	पृष्ठ.	पंक्ति.
इस लक्षणके प्रत्येक पदकी सार्थकता.	११९	८
नैयायिकादिके आप्तमें दोष.	१२०	११
प्रमाणके विषयभूत अर्थका लक्षण.	१२१	३
नैयायिकोंके जातिपदार्थका खण्डन.	१२१	२१
विशेष (पर्याय) के भेद....	१२२	१८
गुणका लक्षण और गुणपर्यायोंमें परस्पर स्वरूपभेद. ...	१२३	१०
द्रव्यका लक्षण और उसका जीवाजीव द्रव्योंमें संघटन....	१२४	८
नयका लक्षण और उसके द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक ऐसे दो भेद.	१२७	१५
उपर्युक्त दोनों नयोंके आधारपर सुवर्णादि वस्तुके पर्यायों- में परस्पर भेदाभेदका दिखाना तथा सात भंगोंमें प्रथम तीन भंगोंका सिद्ध करना.	१२८	११
शेष चार भंगोंका निदर्शन.	१२९	४
एक वस्तुमें सात भंगोंके माननेमें शंका समाधान. ...	१३०	६
सर्वथा अभेदवाद माननेमें दोष....	१३१	२१
सर्वथा भेदवाद माननेमें दोष.	१३२	१६
अनेकान्तवादमें आक्षेपका उत्तर.	१३२	१७

ॐ

नमः सिद्धेभ्यः ।

श्रीधर्मभूषणयतिविरचिता

न्यायदीपिका ।

भाषाटीकासमेता ।

ग्रन्थके आदिमें मङ्गलाचरण करनेके चार प्रयोजन हैं,—(१) विघ्नविघात (२) शिष्टाचारपरिपालन (३) नास्तिकतापरिहार और (४) गुणस्मरण । इसका खुलासा इस प्रकार है कि—

१ उत्तम कार्योंमें अनेक विघ्न आया करते हैं। मङ्गलाचरण करनेसे उत्पन्न हुए शुभ भावोंके निमित्तसे उस अन्तराय कर्मका अनुभाग क्षीण हो जाता है जो कि अभीष्ट कार्य्यमें विघ्न करता था, इसलिये वह अन्तरायकर्म इष्टकार्यमें बाधक नहीं हो सकता। २ सदासे शिष्ट पुरुष ग्रन्थके प्रारंभमें मङ्गलाचरण करते हैं इसलिये ग्रन्थके प्रारंभमें मङ्गलाचरण करना युक्तिसङ्गत है। ३ मङ्गलाचरण करनेसे पुण्य, पाप, इहलोक, परलोक, स्वर्ग, नरक, मोक्ष इत्यादि पदार्थोंमें ग्रन्थकर्त्ताकी श्रद्धा जान पड़ती है। ४ इष्ट सुखकी प्राप्ति सम्यग्ज्ञानसे होती है, सम्यग्ज्ञानकी प्राप्ति शास्त्रसे और शास्त्रकी उत्पत्ति आप्तसे होती है। इसलिये इष्टफलकी सिद्धिके परम्परा साधनस्वरूप आप्त भगवानका स्तवन उपकारके स्मरणार्थ ग्रंथारंभमें अवश्य कर्तव्य है।

इस प्रकार मङ्गलाचरणके चार प्रयोजन विचारकर ग्रंथारंभके समय ग्रन्थकार मङ्गलाचरण करते हैं—

श्रीवर्धमानमर्हन्तं नत्वा बालप्रबुद्धये ।
विरच्यते मितस्पष्टसन्दर्भन्यायदीपिका ॥ १ ॥

अन्तरङ्ग केवलज्ञानादिरूप और बाह्य समवसरणादिरूप दोनों ही प्रकारकी लक्ष्मीसे युक्त अन्तिम तीर्थंकर श्रीवर्धमान स्वामीको नमस्कार करके—जो व्याकरण, काव्य, कोष, छन्द, अलङ्कार आदि अनेक ग्रन्थोंमें प्रवीण हैं परन्तु न्यायशास्त्रमें अनभिज्ञ हैं उन बालकोंका न्यायशास्त्रमें प्रवेश होजाय इसलिये मैं संक्षिप्त और सरलरचनायुक्त न्यायदीपिकाको रचता हूं।

"प्रमाणनयैरधिगमः" इति महाशास्त्रतत्वार्थसूत्रम् । तत्खलु परमपुरुषार्थनिःश्रेयससाधनसम्यग्दर्शनादिविषयभूतजीवादितत्त्वाधिगमोपायनिरूपणपरम् । प्रमाणनयाभ्यां हि विवेचिता जीवादयः सम्यगधिगम्यन्ते । तद्व्यतिरेकेण जीवाद्यधिगमे प्रकारान्तरासम्भवात् । ततएव जीवाद्यधिगमोपायभूतौ प्रमाणनयावपि विवेक्तव्यौ । तद्विवेचनपराः प्राक्तनग्रन्थाः सन्त्येव, तथापि केचिद्विस्तृताः केचिद्गम्भीरा इति न तत्र बालानामधिकारः । ततस्तेषां सुखोपायेन प्रमाणनयात्मकन्यायस्वरूपप्रतिबोधकशास्त्राधिकारसम्पत्तये प्रकरणमिदमारभ्यते ।

श्री तत्त्वार्थाधिगम नाम महाशास्त्रका यह सूत्र है कि— "प्रमाणनयैरधिगमः" (प्रमाण और नयोंके द्वारा जीवादिक पदार्थोंका निश्चय होता है)। धर्म, अर्थ, काम मोक्ष इन चारों पुरुषार्थोंमें सर्वोत्कृष्ट जो मोक्षपुरुषार्थ, उसकी प्राप्तिका कारण

सम्यंग्दर्शन[1] सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र है। उन सम्य-ग्दर्शनादिके विषयभूत जीवादि पदार्थोंके ज्ञान होनेका उपाय इस सूत्रमें बताया है। इन्ही प्रमाण और नयोंसे जीवा-दिक पदार्थों का सम्यग् विवेचन हो सकता है। इनके अतिरिक्त जीवादिक पदार्थोंके जाननेका दूसरा उपाय नहीं है। इस-लिये जीवादिक पदार्थोंको जाननेके उपायभूत प्रमाण और नय इन दोनोंका विवेचन भी करना चाहिये। यद्यपि बहुतसे प्राचीन ग्रन्थोंमें इनका वर्णन किया गया है, तथापि उनमें कई तो अत्यन्त विस्तीर्ण हैं और कई अत्यन्त गम्भीर हैं। अर्थात् छोटे होने परभी उनका भाव इतना कठिन है कि सहसा समझमें नहीं आसकता। इसलिये उनमें बालकोंका प्रवेश नहीं हो सकता। अतः प्रमाणनयात्मक न्यायका सरल उपायोंद्वारा ज्ञान करानेवाले शास्त्रोंमें उन जिज्ञासु बालकोंका प्रवेश हो सके इसलिये इस ग्रंथका आरम्भ किया जाता है।

इह हि प्रमाणनयविवेचनमुद्देश-लक्षणनिर्देश-परीक्षाद्वारेण क्रियते। अनुद्दिष्टस्य लक्षणनिर्देशानुपपत्तेः। अनिर्दिष्टलक्ष-णस्य परीक्षितुमशक्यत्वात्। अपरीक्षितस्य विवेचनायोगात्। लोकशास्त्रयोरपि तथैव वस्तुविवेचनप्रसिद्धेः।

यहां पर उद्देश लक्षण और परीक्षा इन तीन प्रकारोंसे प्रमाण और नयका विचार किया जाता है। क्योंकि जबतक किसीका उद्देश न किया जायगा, अर्थात् उसके नाममात्र-का कथन न किया जायगा, या उसका स्वरूप न दिखाया जायगा, तबतक उस विषयका विशेष कथन नहीं हो सकता

---

१ जीवादि पदार्थोंके श्रद्धानको सम्यग्दर्शन, जाननेको सम्यग्ज्ञान तथा उनमेंसे हेयके त्याग और उपादेयके ग्रहण करनेको सम्यक्चारित्र कहते हैं।

और जबतक उसका लक्षण न किया जायगा, तबतक उसकी परीक्षा नहीं हो सकती। और विना परीक्षाके उस पदार्थकी विवेचना नहीं हो सकती इसलिये इन तीनोंके द्वारा प्रमाण और नयोंका विवेचन किया जाता है। लोक तथा शास्त्रमें इन्हीं तीन प्रकारों द्वारा वस्तुविवेचन करनेकी परिपाटी प्रचलित है।

तत्र विवेक्तव्यनाममात्रकथनमुद्देशः। व्यतिकीर्णवस्तुव्यावृत्तिहेतुर्लक्षणम्। तदाहुर्वार्तिककारपादाः—"परस्परव्यतिकरे सति येनान्यत्वं लक्ष्यते तल्लक्षणम्" इति।

जिस वस्तुका विचार करना हो उसके नाममात्र कहनेको उद्देश कहते हैं। अनिर्धारित वस्तुसमूहमेंसे किसी एक विवक्षित वस्तुका निर्धार करानेवाले हेतुको लक्षण कहते हैं। श्रीअकलङ्कस्वामीने भी तत्त्वार्थवार्तिकालङ्कारमें यही कहा है कि–"परस्पर मिली हुई वस्तुओंमेंसे (अविशेषितरूपसे उपस्थित हुई वस्तुओंमेंसे) किसी एक वस्तुकी भिन्नता जिसके द्वारा समझी जाय, उसको 'लक्षण' कहते हैं"।

द्विविधं लक्षणमात्मभूतमनात्मभूतं चेति। तत्र यद्वस्तुस्वरूपानुप्रविष्टं तदात्मभूतम्। यथाग्नेरौष्ण्यम्। औष्ण्यं ह्यग्नेः स्वरूपम् तदग्निमबादिभ्यो व्यावर्तयति। तद्विपरीतमनात्मभूतम्। यथा दण्डः पुरुषस्य। दण्डिनमानयेत्युक्ते हि दण्डः पुरुषाननुप्रविष्ट एव पुरुषं व्यावर्तयति। तद्भाष्यं "तत्रात्मभूतमग्नेरौष्ण्यमनात्मभूतं देवदत्तस्य दण्डः" इति।

लक्षण दो प्रकारका होता है–एक आत्मभूत दूसरा अनात्मभूत। जो वस्तुके स्वरूपसे भिन्न न हो उसको आत्मभूत कहते हैं। जैसे अग्निका लक्षण उष्णता। यह उष्णता अग्निका स्वरूप होकर ही जलादिक सम्पूर्ण पदार्थोंसे उस

अग्निको भिन्न बताता है। इसलिये यह (उष्णता) अग्निका आत्मभूत लक्षण कहा जाता है। जो लक्षण उपर्युक्त प्रकारसे आत्मभूत न हो उसे अनात्मभूत कहते हैं। अर्थात् जिसका लक्षण करना हो उसके स्वस्वरूपसे जिस हेतुका स्वरूप (स्वात्मा) भिन्न हो, उसको अनात्मभूत लक्षण कहते हैं। जैसे पुरुषका लक्षण दण्ड। 'दण्डिनमानय' अर्थात् दण्डवालेको लाओ, ऐसा कहने पर, लानेवाला (आज्ञापित मनुष्य) दण्डको देखकर दूसरे पदार्थोंसे उस पुरुषको भिन्न समझ लेता है कि जिसके पास दंड हो या जो दंडी हो। यहां पर दूसरे पदार्थोंसे भिन्नता बतानेवाला लक्षणरूप दण्ड, लक्ष्यरूप पुरुषके स्वरूपसे अभिन्न नहीं है किंतु भिन्न है। इसलिये ऐसे लक्षणको अनात्मभूत लक्षण कहते हैं। ऐसा ही गन्धहस्तिमहाभाष्यमें भी कहा है कि—"अग्निका 'उष्णता' आत्मभूत लक्षण है और देवदत्त का 'दण्ड' अनात्मभूत लक्षण है।"

असाधारणधर्मवचनं लक्षणमिति केचित्। तदनुपपन्नम्।

कई मतवाले सर्वथा असाधारण धर्मको ही लक्षणका लक्षण कहते हैं; परन्तु यह उनका कहना ठीक नहीं है। क्योंकि ऐसा माननेसे लक्षणमें अव्याप्ति, अतिव्याप्ति, असम्भव ये तीनों ही दोष आते हैं। उन दोषोंका आगे उल्लेख करते हैं।

लक्ष्यधर्मिवचनस्य लक्षणधर्मवचनेन सामानाधिकरण्याभावप्रसङ्गात्। दण्डादेरतद्धर्मस्यापि लक्षणत्वाच्च। किञ्च अव्याप्ताभिधानस्य लक्षणाभासस्यापि तथात्वात्।

लक्ष्य और लक्षण ये दोनों एक ही अधिकरणमें रहते हैं, ऐसा नियम है। यदि ऐसा न मानोगे, तो घटका लक्षण पट भी मानना पड़ेगा। परन्तु प्रवादीके माने हुए लक्षणके अनुसार, लक्ष्य तथा लक्षण रहना एक ही अधिकरणमें नहीं बन सकता। क्योंकि उसके मतानुसार लक्षण, लक्ष्यमें रहता है और लक्ष्य

अपने अवयवोंमें रहता है। जैसे कि पृथिवीका लक्षण गन्ध है। वह गन्ध पृथिवीमें रहता है और पृथिवी अपने अवयवोंमें रहती है। इसी प्रकार सभी उदाहरणोंमें लक्ष्य तथा लक्षणमें भिन्नाधिकरणता ही सिद्ध होती है। कहीं भी एकाधिकरणता नहीं बनती। इसलिये इस लक्षणके लक्षणमें असम्भव दोष आता है।

दूसरे, पुरुषका लक्षण दण्ड भी होता है, परन्तु प्रवादीके कथनानुसार उसमें लक्षणका लक्षण घटित नहीं होता। क्योंकि दण्ड पुरुषका असाधारण धर्म नहीं है। इसलिये लक्ष्यके किसी एक देशमें लक्षणके घटित न होनेसे अव्याप्ति दोष आता है।

तीसरे, अव्याप्तिदोषसहित लक्षणाभासमें (अलक्ष्यमें) भी इस लक्षणके घटित होनेसे अतिव्याप्ति दोष आता है। क्योंकि गौका शाबलेयत्वादिक[1], अव्याप्ति दोषसे दूषित होनेके कारण वास्तविक लक्षण तो नहीं है परन्तु वह असाधारण धर्म अवश्य है। क्योंकि वह गौको छोड़कर दूसरी जगह नहीं रहता।

आगे इन दोषोंका (अव्याप्ति, अतिव्याप्ति, असम्भव) लक्षण कहकर अव्याप्ति दोषको घटित करते हैं;—

तथा हि—त्रयो लक्षणाभासभेदाः। अव्याप्तमतिव्याप्तमसम्भवि चेति। तत्र लक्ष्यैकदेशवृत्त्यव्याप्तम्, यथा गोः शावलेयत्वम्। लक्ष्यालक्ष्यवृत्त्यतिव्याप्तम्, यथा तस्यैव पशुत्वम्। बाधितलक्ष्यवृत्त्यसम्भवि, यथा नरस्य विषाणित्वम्। अत्र हि लक्ष्यैकदेशवर्तिनः पुनरव्याप्तस्यासाधारणधर्मत्वमस्ति न तु लक्ष्यभूतगोमात्रव्यावर्त्तकत्वम्। तस्माद्यथोक्तमेव लक्षणम्। तस्य कथनं लक्षणनिर्देशः॥

---

१ एक खास रंगका नाम है जो कि गौको छोड़कर दूसरी जगह नहीं रहता।

जो वास्तविक लक्षण तो नहीं हो, परन्तु लक्षणसरीखा मालूम पड़े, उसको लक्षणाभास कहते हैं। उसके तीन भेद हैं— अव्याप्त, अतिव्याप्त, और असम्भवी। जो लक्ष्यके एक देशमें रहे, उसको अव्याप्त कहते हैं। जैसे गौका लक्षण शावलेयत्व। क्योंकि यह शावलेयत्व यद्यपि गौको छोड़कर दूसरी जगह नहीं रहता, तथापि लक्ष्यभूत गोमात्रमें भी न रहकर कुछ खास गौओंमें ही रहता है। इसलिये लक्ष्यके एक देशमें ही रहनेवाले गौके इस शावलेयत्व लक्षणको अव्याप्तनामक लक्षणाभास कहते हैं। इसी प्रकार दूसरी जगह भी समझना।

जो लक्ष्यमात्रमें रहकर अलक्ष्यमें भी रहे, उसको अतिव्याप्त लक्षण कहते हैं। जैसे गौका लक्षण पशुत्व। यह लक्षण गोमात्रमें रहते हुए लक्ष्यसे भिन्न भैंस वगैरहमें भी रहता है। इसलिये इसको अतिव्याप्त लक्षण कहते हैं।

जिसका लक्ष्यमें रहना प्रत्यक्षादि प्रमाणसे सर्वथा बाधित हो, उसको असम्भवी कहते हैं। जैसे मनुष्यका लक्षण सींग। यह मनुष्यका लक्षण किसी भी मनुष्यमें घटित नहीं होता इसलिये इस लक्षणको असम्भवी लक्षण कहते हैं।

यहां पर लक्ष्यके एक देशमें रहनेवाला अव्याप्त लक्षण असाधारणधर्मस्वरूप तो है परन्तु लक्ष्यभूत सम्पूर्ण गायोंको अन्य वस्तुओंसे जुदा करनेवाला (व्यावर्तक) नहीं है। इसलिये प्रतिवादीका कहा हुआ लक्षण ठीक नहीं है किन्तु हमने जो सिद्धान्त लक्षण कहा है वही ठीक है और उसीके कथनको लक्षणनिर्देश कहते हैं।

विरुद्धनानायुक्तिप्राबल्यदौर्बल्यावधारणाय प्रवर्तमानो विचारः परीक्षा। सा खल्वेवं चेदेवं स्यादेवं चेदेवं स्यादित्येवं प्रवर्तते। प्रमाणनययोरप्युद्देशः सूत्र एव कृतः। लक्षणमिदानीं निर्देष्टव्यं परीक्षा च यथौचित्यं भविष्यति। उद्देशानुसारेण

लक्षणकथनमिति न्यायात्प्रधानत्वेन प्रथमोद्दिष्टस्य प्रमाणस्य तावल्लक्षणमनुशिष्यते ।

परस्पर विरुद्ध अनेक युक्तियोंमेंसे, कौनसी युक्ति प्रबल है और कौनसी दुर्बल है इस बातके निश्चय करनेकेलिये 'यदि ऐसा माना जायगा तो ऐसा होगा और उसके विरुद्ध ऐसा माना जायगा तो ऐसा होगा' इस प्रकार जो विचार किया जाता है, उसको परीक्षा कहते हैं।

प्रमाण और नय इन दोंनोका उद्देश तो सूत्रमें ही किया जा चुका है, किंतु अब उसका लक्षण कहना चाहिये। लक्षण कहने पर जैसा उचित होगा, परीक्षा स्वयं होजायगी।

यह न्याय है कि, "जिस क्रमसे उद्देश किया जाय, उसी क्रमसे लक्षण भी होना चाहिये"। नयोंसे प्रमाण प्रधान है, इसलिये सूत्रमें नयोंसे पहले कहे हुए प्रमाणका ही लक्षण प्रथम कहते हैं;—

सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम् । अत्र प्रमाणं लक्ष्यम् । सम्यग्ज्ञानत्वं तस्य लक्षणम् । गोरिव सास्नादिमत्त्वम्, अग्नेरिवौष्ण्यम् । अत्र सम्यक्पदं संशयविपर्ययानध्यवसायनिरासाय क्रियते । अप्रमाणत्वादेतेषां ज्ञानानामिति । तथा हि—

समीचीन ज्ञानको प्रमाण कहते हैं। यहां पर प्रमाण तो लक्ष्य है और सम्यग्ज्ञानत्व उसका लक्षण है। जैसे गौका लक्षण सास्नादिमत्व[1] अथवा अग्निका लक्षण उष्णता । अर्थात् यह प्रमाण का लक्षण आत्मभूत लक्षण है।

यहां पर ज्ञानके साथ जो सम्यक् शब्द दिया है वह संशय, विपर्यय, अनध्यवसायरूप तीन मिथ्या ज्ञानोंके निराकरण

---

१ गायके गलेमें जो मांसल चमड़ा लटकता रहता है, उसको सास्ना कहते हैं।

करनेके लिये दिया है। क्योंकि ये ज्ञान अप्रमाण हैं। इनकी अप्रमाणता आगे दिखाते हैं;—

विरुद्धानेककोटिस्पर्शि ज्ञानं संशयः। यथायं स्थाणुर्वा पुरुषो वेति। स्थाणुपुरुषसाधारणोर्ध्वतादिदर्शनात्तद्विशेषस्य वक्रकोटरशिरःपाण्यादेः साधकप्रमाणस्याभावादनेककोट्यवलम्बित्वं ज्ञानस्य। विपरीतैककोटिनिश्चयो विपर्ययः। यथा शुक्तिकायामिदं रजतमिति ज्ञानम्। अत्रापि सादृश्यादिनिमित्तवशाच्छुक्तिविपरीते रजते निश्चयः। किमित्यालोचनमात्रमनध्यवसायः। यथा पथि गच्छतस्तृणस्पर्शादिज्ञानम्। इदं हि नानाकोट्यवलम्बनाभावान्न संशयः। विपरीतैककोटिनिश्चयाभावान्न विपर्ययः। इति पृथगेव। एतानि च स्वविषयप्रमितिजनकत्वाभावादप्रमाणानि ज्ञानानि भवन्ति। सम्यग्ज्ञानानि तु न भवन्तीति सम्यक्पदेन व्युदस्यन्ते। ज्ञानपदेन प्रमातुः प्रमितेश्चव्यावृत्तिः। अस्ति हि निर्दोषत्वेन तत्रापि सम्यक्त्वम्। न तु ज्ञानत्वम्।

परस्पर विरुद्ध अनेक कोटियोंका (पक्ष, या विषयोंका) अवलंबन करनेवाले ज्ञानको संशय कहते हैं। जैसे किसी स्थाणु (वृक्षके ठूंठ) या पुरुषमें यह स्थाणु है अथवा पुरुष ऐसा ज्ञान होना। यहां पर दोनोंमेंसे किसी भी पक्षका निश्चय नहीं है। दोनोंमें ही सन्देह है। इसलिये इस ज्ञानको संशय कहते हैं।

स्थाणु और पुरुषादिक दोनों ही कोटियोंमें दीखनेवाले ऊंचाई आदि साधारण धर्मोंके देखनेपर तथा उनके विशेष धर्म्म जैसे स्थाणुके वक्रकोटरादि (खोखल) और पुरुषके सिर हाथ आदि न दीखने पर किन्तु इन विशेष धर्मोंका स्मरण उठ आने पर दोनों कोटियोंका अवलम्बन करनेवाला संशयज्ञान उत्पन्न होता है।

जिसमें विपरीत एक कोटिका निश्चय हो उसको विपर्यय कहते हैं। जैसे सीपमें यह चांदी है ऐसा ज्ञान होना। यहां-पर भी सीपमें चांदीके सदृश चाकचिक्य आदि सदृश धर्मोंको देखकर उसमें (सीपमें) उसके विपरीत चांदीका ज्ञान होता है।

यह क्या है, इस प्रकारका जो ज्ञान होता है, उसको अनध्य-वसाय कहते हैं। जैसे रास्ता चलनेवालेको तृण या कांटे आदि-के स्पर्शमात्रसे यह कुछ पदार्थ है ऐसा ज्ञान होता है उसको अनध्यवसाय कहते हैं। इस ज्ञानमें विरुद्ध दो या तीन आदि कोटियोंका अवलम्बन नहीं है, इसलिये इसको संशय नहीं कह सकते। विपरीत एक कोटिका निश्चय नहीं है, इसलिये यह विपर्यय भी नहीं है। अतः यह दोनोंसे विलक्षण एक तीसरा ही अनध्यवसाय नामक मिथ्याज्ञान है।

इन तीनोंमें ही अपने २ विषयका यथार्थ निश्चय नहीं होता इसलिये इन तीनों ज्ञानोंको मिथ्या कहते हैं। परन्तु सम्य-ग्ज्ञान ऐसा नहीं है, अर्थात् उसमें यथार्थ प्रतिभास होता है। इसलिये जो ज्ञानके साथ सम्यक् पद लगाया है, उससे उन तीनों मिथ्या ज्ञानोंका निराकरण होजाता है।

ज्ञानशब्दसे प्रमाता[1] और प्रमितिकी[2] व्यावृत्ति होती है। क्योंकि यद्यपि प्रमाता और प्रमितिमें निर्दोषपना होनेसे समीची-नता है, तथापि ज्ञानपना नहीं है।

ननु प्रमितिकर्तुः प्रमातुर्ज्ञातृत्वमेव न ज्ञानत्वमिति, यद्यपि ज्ञानपदेन प्रमातुर्व्यावृत्तिस्तथापि प्रमितिर्न व्यावर्तयितुं शक्या तस्या अपि सम्यग्ज्ञानत्वादिति चेद्भवेदेवं यदि भावसाधनमिह ज्ञानपदम्। करणसाधनं खल्वेतज्ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानमिति।

१ निश्चय करनेवाला। २ प्रमाणके फलको प्रमिति कहते हैं, ऐसा आगे कहेंगे।

"करणाधारे चानट्" इति करणेप्यनट्प्रत्ययानुशासनात् । भावसाधनं तु ज्ञानपदं प्रमितिमाह । अन्यद्धि भावसाधनात्करणसाधनं पदम् । एवमेव प्रमाणपदमपि प्रमीयतेऽनेनेति करणसाधनं कर्तव्यम्, अन्यथा सम्यग्ज्ञानपदेन सामानाधिकरण्याऽघटनात् । तेन प्रमितिक्रियां प्रति यत्करणं तत्प्रमाणमिति सिद्धम् । तदुक्तं प्रमाणनिर्णये "इदमेव हि प्रमाणस्य प्रमाणत्वं यत्प्रमितिक्रियां प्रति साधकतमत्वेन करणत्वम्" इति ।

(शङ्का) प्रमितिका कर्ता जो प्रमाता है, वह ज्ञाता है किंतु स्वयं ज्ञान नहीं है । इसलिये यद्यपि प्रमाताकी ज्ञानशब्दसे व्यावृत्ति होसक्ती है, तथापि प्रमितिकी व्यावृत्ति नहीं हो सकती । क्योंकि प्रमिति भी यथार्थ ज्ञानस्वरूप ही है । (उत्तर) ऐसा तब हो सकता था जब कि यहांपर ज्ञानशब्द भावसाधन होता । किन्तु यहांपर इस ज्ञानशब्दको माना है करणसाधन । उसकी व्याकरणके अनुसार 'ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानम्' ऐसी निरुक्ति भी होती है तथा "करणाधारे चानट्" इस व्याकरण-सूत्रसे करण अर्थमें अनट् प्रत्यय होता है । जो ज्ञानशब्द भाव-साधन है वह प्रमितिका ही वाचक है । किंतु भावसाधन ज्ञानशब्दसे करणसाधन ज्ञानशब्द एक भिन्न ही शब्द है । इसी प्रकार प्रमाण शब्दको भी 'प्रमीयतेऽनेनेति प्रमाणम्' ऐसी निरुक्तिके अनुसार यहांपर करण साधन ही समझना चाहिये । क्योंकि यदि ऐसा न माना जायगा, तो प्रमाणशब्दका सम्य-ग्ज्ञानशब्दके साथ एकाधिकरणता नहीं बन सकेगा । इससे यह बात सिद्ध हुई कि प्रमितिक्रियाके (जाननेरूप क्रियाके) प्रति जो करण है, वह प्रमाण है । प्रमाणनिर्णयमें भी ऐसा ही

---

१ यह जैनेन्द्र महाव्याकरणका सूत्र है ।

कहा है कि—"प्रमाणकी प्रमाणता यही है कि जो प्रमितिरूप क्रियाके प्रति साधकतमरूपसे करण हो"।

नन्वेवमप्यक्षलिङ्गादावतिव्याप्तिर्लक्षणस्य तत्रापि प्रमितिरूपं फलं प्रति करणत्वात् । दृश्यते हि चक्षुषा प्रमीयते, धूमेन प्रमीयते, शब्देन प्रमीयते इति व्यवहारः इति । चेन्न, अक्षादेः प्रमितिं प्रत्यसाधकतमत्वात् । तथा हि—

(शङ्का) प्रमाणका ऐसा लक्षण मानने पर भी, इन्द्रिय लिङ्गादिकमें इस लक्षणकी अतिव्याप्ति होती है। क्योंकि प्रमितिके प्रति इन्द्रिय तथा लिङ्गादिक भी करण हैं। ऐसा लोकमें व्यवहार देखा जाता है कि, मैं चक्षुके द्वारा इस पदार्थको जान रहा हूं, अथवा धूमके द्वारा इस पदार्थको जान रहा हूं, यद्वा अमुक वस्तुको शब्दके द्वारा जान रहा हूं।

(उत्तर) ऐसा कहना ठीक नहीं है। क्योंकि इन्द्रियादिक प्रमितिके प्रति साधकतम नहीं हैं। साधकतम क्यों नहीं हैं? इस बातको आगे स्पष्ट रीतिसे दिखलाते हैं।

प्रमितिः प्रमाणस्य फलमिति न कस्यापि विप्रतिपत्तिः। सा चाज्ञाननिवृत्तिरूपा तदुत्पत्तौ करणेन भवता सता तावदज्ञानविरोधिना भवितव्यम् । न चाक्षादिकमज्ञानविरोधि, अचेतनत्वात् । तस्मादज्ञानविरोधिनश्चेतनधर्मस्यैव करणत्वमुचितम् । लोकेऽप्यन्धकारविघटनाय तद्विरोधी प्रकाश एवोपास्यते, न पुनर्घटादि, तदविरोधित्वात् ।

प्रमिति, प्रमाणका फल है इस विषयमें किसीका भी विवाद नहीं है। यह प्रमिति अज्ञानकी निवृत्तिरूप है इसलिये उसकी उत्पत्तिमें जो करण हो वह अज्ञानका विरोधी होना चाहिये। इन्द्रियादिक जो करण कहे वे अज्ञानके विरोधी नहीं

हैं क्योंकि अचेतन हैं। इसलिये अज्ञानके विरोधी चैतन्य धर्मको ही प्रमितिके प्रति करण मानना उचित है। लोकमें भी अन्धकार हटानेके लिये उसके विरोधी प्रकाशका ही आश्रय लेना पड़ता है, न कि घटादिकका। क्योंकि वह (घट) उस अंधकारका विरोधी नहीं है। इसलिये इन्द्रियादिक जब प्रमितिके प्रति करण ही नहीं हैं तो उनमें प्रमाणके लक्षणकी अतिव्याप्ति कैसे आसकती है?

किञ्चास्वसंविदितत्वादक्षादेर्नार्थप्रमितौ साधकतमत्वं स्वावभासनाशक्तस्य परावभासकत्वायोगात्। ज्ञानं तु स्वपरावभासकं प्रदीपादिवत्प्रतीतम्। ततः स्थितं प्रमितावसाधकतमत्वादकरणमक्षादय इति। चक्षुषा प्रमीयते इत्यादिव्यवहारे पुनरुपचारः शरणम्। उपचारप्रवृत्तौ च सहकारित्वं निबन्धनम्। न हि सहकारित्वेन तत्साधकमिदमिति करणं नाम, साधकविशेषस्यातिशयवतः करणत्वात्। तदुक्तं जैनेन्द्रे—"साधकतमं करणः।" तस्मान्न लक्षणस्याक्षादावतिव्याप्तिः।

पदार्थका ज्ञानकरनेमें इन्द्रियोंको साधकतम न होसकनेका दूसरा हेतु यह भी है कि इन्द्रियां अस्वसंवेदी हैं अर्थात् वे अपने स्वरूपको नहीं जानतीं। जो अपने स्वरूपको ही नहीं जान सकता वह दूसरेको भी प्रकाशित कैसे कर सकता है? हमने जो ज्ञानको साधकतम माना है, सो दीपककी तरह अपनेको भी और दूसरेको भी प्रकाशित करनेवाला है। ज्ञान निज और परको प्रकाशित करता है यह बात सभीको अपने २ अनुभवसे मान्य है। इसलिये यह बात सिद्ध हुई कि प्रमितिके प्रति साधकतम न होसकनेके कारण इन्द्रियोंको करण नहीं कह सकते। यहां पर यद्यपि यह प्रतीति बताई गई थी कि 'मैं अपनी आंखके द्वारा भले प्रकार जानता हूं' और इस प्रतीतिसे यह बात सिद्ध की गई थी

कि इन्द्रियां प्रमितिके प्रति करण हो सकती हैं परंतु यह बात ठीक नहीं है, क्योंकि यह प्रतीति जो होती है वह उपचारसे होती है । कुछ २ ज्ञानोंकी उत्पत्तिमें ये इंद्रियाँ सहायक होती हैं अवश्य यही कारण है कि ऐसी उपचारयुक्त प्रतीति होती है। सहकारी होनेसे इंद्रियोंको साधक कह सकते हैं। परन्तु वे साधक हैं एतावता करण भी हो गई यह बात स्वीकृत नहीं हो सकती है, क्योंकि करण उसीको कहना चाहिये जो क्रियाके प्रति, अतिशय करके साधक हो । जैनेन्द्र व्याकरणमें भी करणका लक्षण यही कहा है कि "साधकतमं करणः" अर्थात् जिसके व्यापारके अनन्तर नियमसे कार्यकी उत्पत्ति हो उसको करण कहते हैं। इन्द्रियां प्रमितिके प्रति साधक होनेपर भी साधकतम न होनेके कारण करण नहीं हैं। अतएव प्रमाणका जो यह लक्षण किया था कि प्रमितिके प्रति जो साधकतम हो उसको प्रमाण कहते हैं इस लक्षणकी इन्द्रियादिकोंमें, अतिव्याप्ति नहीं आसकती।

अथापि धारावाहिकबुद्धिष्वतिव्याप्तिस्तासां सम्यग्ज्ञानत्वात्। न च तासामार्हतमते प्रामाण्याभ्युपगम इति। उच्यते—एकस्मिन्नेव घटे घटविषयाज्ञानविघटनार्थमाद्ये ज्ञाने प्रवृत्ते तेन घटप्रमितौ सिद्धायां पुनर्घटोयं घटोयमित्येवमुत्पन्नान्युत्तरोत्तरज्ञानानि खलु धारावाहिकज्ञानानि । न ह्येषां प्रमितिं प्रति साधकतमत्वं प्रथमज्ञानेनैव प्रमितेः सिद्धत्वात् । कथं तत्र लक्षणमतिव्याप्नोति तेषां गृहीतग्राहित्वात् ।

(शङ्का) यद्यपि इन्द्रियादिकोंमें इस लक्षणकी अतिव्याप्ति नहीं है तथापि धारावाहिक बुद्धिमें, अतिव्याप्ति, अवश्य हो जायगी। अर्थात् ऐसा लक्षण माननेपर धारावाहिक बुद्धिको भी प्रमाण मानना पड़ेगा। परन्तु, आर्हत मतमें (जैनमतमें) इसको

प्रमाण नहीं माना है । और आपका किया हुआ लक्षण इसमें भी घटित होता है । इसलिये, अतिव्याप्ति, अवश्य सम्भव है ।

(उत्तर) किसी भी एक विषयका अज्ञान दूर करनेकेलिये जो उस विषयका प्रथम ज्ञान उत्पन्न होता है उसके अनन्तर फिर भी बार २ जो उसी विषयका ज्ञान हो उसको धारावाहिक कहते हैं। जैसे पहले घटविषयक जो, अज्ञान था उसको दूर करनेकेलिये घटका ज्ञान हो चुकनेपर फिर जो "यह घट है यह घट है" ऐसा ज्ञान कई ज्ञानतक होता है उसको धारावाहिक बुद्धि कहते हैं। इसमें भी हमारे किये हुए लक्षणकी अतिव्याप्ति नहीं हो सकती, क्योंकि यह भी प्रमितिके प्रति साधकतम नहीं है। कारण यह कि प्रमिति तो प्रथम ज्ञानसे ही सिद्ध हो चुकी, फिर पीछे होनेवाले धारावाहिक ज्ञानने क्या किया? जिसको पहले ज्ञानने विषय किया है धारावाहिक केवल उसीको बार २ विषय करता है, अर्थात् गृहीतग्राही होनेसे उसमें, अतिव्याप्ति नहीं आसकती। अतएव (गृहीतग्राही होनेसे) यह प्रमाण भी नहीं है ।

ननु घटे दृष्टे पुनरन्यव्यासङ्गे पश्चाद् घट एव दृष्टे पश्चात्तमं ज्ञानमप्रमाणत्वं प्राप्नोति धारावाहिकवदिति चेन्न दृष्टस्यापि मध्ये समारोपे सत्यदृष्टत्वात् । तदुक्तं "दृष्टोपि समारोपात्तादृक्" इति । एतेन निर्विकल्पके सत्तालोचनरूपे दर्शनेप्यतिव्याप्तिः परिहृता । तस्याव्यवसायरूपत्वेन प्रमितिं प्रति करणत्वाभावात् । निराकारस्य दर्शनस्य ज्ञानत्वाभावाच्च निराकारं दर्शनं साकारं ज्ञानमिति प्रवचनात् । तस्मात् प्रमाणस्य सम्यग्ज्ञानमिति लक्षणं नातिव्याप्तं नाप्यव्याप्तं लक्ष्ययोः प्रत्यक्षपरोक्षयोर्व्याप्यवृत्तेः । नाप्यसम्भवि लक्ष्यवृत्तेरबाधितत्वात् ।

(शङ्का) यदि गृहीतग्राही–जानेहुए पदार्थको जाननेवाले

ज्ञानको, अप्रमाण मानते हो तो धारावाहिककी तरह जिस ज्ञानने पहले घटादिक पदार्थको विषय किया और फिर कुछ कालके लिये किसी दूसरे काममें लगजानेके कारण वह ज्ञान छूट गया हो तो उसी घटादिक पदार्थका दूसरी बार होनेवाला जो ज्ञान उसको भी, अप्रमाण कहना पड़ेगा।

(उत्तर) यह शङ्का ठीक नहीं है क्योंकि जिस पदार्थको एकबार जान भी लिया हो परंतु उसके पीछे यदि मनोयोग दूसरी तरफ लगजाय और वह प्रथम विषय मनोगत न रहे तो वह प्रथम विषय अज्ञातसा ही हो जाता है। ऐसा ही श्रीमाणिक्यनन्दिस्वामीने परीक्षामुखमें कहा है कि "दृष्टोपि समारोपात्तादृक्" इति। अर्थात् जिसको एकबार जान भी लिया परंतु उसके अनन्तर समारोप होनेपर वह, अदृष्टसा ही है। इसलिये जिसके बीचमें व्यासङ्ग, आगया हो उसके दूसरे बार होनेवाले ज्ञानको भी अप्रमाण नहीं कहसकते। धारावाहिक ज्ञानके बीचमें किसी प्रकारका व्यवधान नहीं पड़ता किन्तु उत्तरोत्तर पूर्वविषयक ही ज्ञान होता चला जाता है इसलिये यह धारावाहिक ज्ञान तथा व्यासंग पड़नेके अनन्तर उत्पन्न होनेवाला ज्ञान, ये दोनों एकसे नहीं हो सकते।

(शङ्का) यद्यपि अचेतन होनेसे इन्द्रिय और गृहीतग्राही होनेसे धारावाहिक बुद्धि, प्रमाण नहीं है अतएव इनमें प्रमाणका लक्षण घटित न होनेसे प्रमाणके लक्षणमें, अतिव्याप्ति नहीं आसकती, परन्तु निर्विकल्पक, और सत्तामात्रको (महासत्ता) विषय करनेवाले दर्शनमें अतिव्याप्ति, अवश्य आजायगी, क्योंकि चैतन्यकी पर्याय होनेसे वह, अचेतन भी नहीं है, और सामान्यावलोकनरूप दर्शनके अनन्तर ही विशेषावलोकन होता है, अतः प्रमितिके प्रति करण भी है, अतः वही प्रमाण है। परन्तु आपने (जैनोंने) उसको प्रमाण नहीं माना है इसलिये, आपके इस प्रमाणलक्षणकी दर्शनमें अतिव्याप्ति आना संभव है।

(उत्तर) दर्शनमें, अतिव्याप्ति नहीं आसकती, क्योंकि यद्यपि वह, अचेतन नहीं है तथापि अनिश्चयात्मक होनेसे प्रमितिके प्रति करण नहीं हो सकता है। दर्शनमें "यह घट है" या "यह पट है" इस प्रकार विशेषरूपसे प्रतिभास नहीं होता, इसलिये अनिश्चयरूप वह दर्शन प्रमितिका करण नहीं होसकता। यदि, अनिश्चयरूप भी प्रमितिका करण माना जायगा तो संशय या विपरीत ज्ञान भी प्रमितिके करण हो जांयगे। इसलिये तथा दर्शन निराकार होनेसे ज्ञानस्वरूप नहीं होसकता इसलिये भी केवल सम्यग्ज्ञानको ही प्रमितिका करण मानना चाहिये न कि दर्शनको; क्योंकि, आचार्योंने दर्शनको निराकार और ज्ञानको साकार माना है।

प्रमाणका "सम्यग्ज्ञान" यह लक्षण, अपने सम्पूर्ण प्रत्यक्ष परोक्षादिक भेदोंमें व्याप्त होकर रहता है तथा प्रमाणके अतिरिक्त, अविषयरूप इन्द्रियादिकोंमें नहीं रहता इसलिये इसमें, अव्याप्ति या अतिव्याप्तिमेंसे कोई भी दोष नहीं है। असम्भव दोष तो यहां संभव ही नहीं हो सकता, क्योंकि, इस लक्षणका लक्ष्यमात्रमें (प्रमाणमें) रहना किसी तरह भी बाधित नहीं है।

किमिदं प्रमाणस्य प्रामाण्यं नाम? प्रतिभातविषयाव्यभिचारित्वम्। तस्योत्पत्तिः कथम्? स्वत एवेति मीमांसकाः। प्रामाण्यस्य स्वत उत्पत्तिरिति ज्ञानसामान्यसामग्रीमात्रजन्यत्वमित्यर्थः। तदुक्तं, "ज्ञानोत्पादकहेत्वनतिरिक्तजन्यत्वमुत्पत्तौ स्वतस्त्वम्" इति।

प्रमाणका प्रामाण्य (प्रमाणपना, सम्यग्ज्ञानपना) क्या है? जो विषय, ज्ञानसे प्रतिभासित हुआ हो वह किसी प्रकार भी झूठा सिद्ध न होसकै इसीको प्रामाण्य कहते हैं। उस प्रामाण्यकी उत्पत्ति किस तरहसे होती है?

मीमांसकमतवाले प्रामाण्यकी उत्पत्ति स्वतः मानते हैं। प्रामाण्यकी स्वतः उत्पत्तिका मतलब यह है कि ज्ञान सामान्यकी उत्पत्तिमें जो सामग्री लगती है उसीसे उस (ज्ञान)में प्रामाण्य भी उत्पन्न हो जाता है, उसके सिवा किसी अधिक सामग्रीकी आवश्यकता नहीं होती। मीमांसकोंके ग्रन्थोंमें ऐसा ही कहा है कि "प्रामाण्यकी उत्पत्ति होनेमें ज्ञानके उत्पादक कारणोंको छोड़कर दूसरे किसी नवीन कारणकी अपेक्षा न होना ही स्वतस्त्व है।

न ते मीमांसकाः ज्ञानसामान्यसामग्र्याः संशयादावपि ज्ञानविशेषे सत्त्वात्। वयं तु ब्रूमहे ज्ञानसामान्यसामग्र्याः साम्येपि संशयादिरप्रमाणं, सम्यग्ज्ञानं प्रमाणमिति विभागस्तावदनिबन्धनो न भवति। ततः संशयादौ यथा हेत्वन्तरमप्रामाण्ये दोषादिकमङ्गीक्रियते तथा प्रमाणेपि प्रामाण्यनिबन्धनमन्यदवश्यमभ्युपगन्तव्यम्, अन्यथा प्रमाणाप्रमाणविभागानुपपत्तेः।

परन्तु वे यथार्थ मीमांसक[1] नहीं हैं क्योंकि ज्ञानसामान्यकी उत्पादक जो सामग्री है वह संशयादिकमें भी—जो कि ज्ञानविशेष हैं—रहती है, किंतु उसमें प्रमाणता उत्पन्न नहीं होती। हम तो इस विषयमें ऐसा कहते हैं कि यद्यपि ज्ञानसामान्यकी उत्पादक सामग्री, समीचीन और मिथ्या दोनों ही प्रकार के ज्ञानोंमें समान है तथापि "संशयादिक अप्रमाण हैं, सम्यग्ज्ञान प्रमाण है" यह विचारभेद निष्कारण नहीं हो सकता। इसलिये जिस प्रकार संशयादिकमें अप्रमाणताके उत्पादक कारण, ज्ञानसामान्यकी सामग्रीके सिवा दूसरे दोषादिक मीमांसकोंने माने हैं, उसी प्रकार समीचीन ज्ञानमें प्रमाणताके उत्पादक कारण भी

---

1 समीचीन विचार करनेवालेको भी मीमांसक कहते हैं।

दूसरे ही मानने चाहिये। वे दूसरे विशेष कारण नैर्मल्यआदिक गुण ही हो सकते हैं। नहीं तो यह प्रमाण है और यह अप्रमाण है, ऐसा विभाग कैसे हो सकता?

एवमप्यप्रामाण्यं परतः प्रामाण्यं तु स्वत इति न वक्तव्यं, विपर्ययेऽपि समानत्वात्। शक्यं हि वक्तुमप्रामाण्यं स्वतः प्रामाण्यं तु परत इति। तस्मादप्रामाण्यवत्प्रामाण्यमपि परत एवोत्पद्यते। नहि पटसामान्यसामग्री रक्तपटे हेतुस्तद्वन्न ज्ञानसामान्यसामग्री प्रमाणज्ञाने हेतुः, भिन्नकार्ययोर्भिन्नकारणप्रभवत्वावश्यम्भावात्।

इसपर कदाचित् आप यह कहेंगे कि "अप्रामाण्यकी उत्पत्तिमें विशेष कारणोंकी अपेक्षा होती है और प्रामाण्य स्वतः ही उत्पन्न होता है।" परंतु यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि यदि हम इससे उलटा कहने लगें तो उस कथनमें भी कोई बाधक नहीं होसकता। अर्थात् हम यह बात कह सकते हैं कि "अप्रामाण्य स्वतः होता है और प्रामाण्य परतः उत्पन्न होना चाहिये।" इसलिये अप्रामाण्यकी तरह प्रामाण्यकी उत्पत्ति होना भी आपको इतर कारणोंसे ही मानना चाहिये। जिस प्रकार वस्त्रसामान्यकी सामग्री रक्त वस्त्रका कारण नहीं होसकती उसी प्रकार ज्ञानसामान्यकी सामग्री भी प्रमाणज्ञानका कारण नहीं हो-सकती। क्योंकि यह नियम है कि "भिन्न २ कार्योंकी उत्पत्ति भिन्न २ कारणोंके विना नहीं होती।"

कथं तस्य ज्ञप्तिः? अभ्यस्ते विषये स्वतः, अनभ्यस्ते तु परतः। कोयमभ्यस्तो विषयः को वानभ्यस्तः? उच्यते-परिचितस्वग्रामतटाकजलादिरभ्यस्तः, तद्व्यतिरिक्तोऽनभ्यस्तः। किमिदं स्वत इति किं नाम परत इति? ज्ञानज्ञापकादेव प्रामाण्यस्य ज्ञप्तिः स्वत इति। ततोतिरिक्ताज्ज्ञप्तिः परत इति।

उसका ज्ञान किस तरह होता है? अर्थात् यह मेरा ज्ञान प्रमाण है, यह किस तरह मालूम होता है?

(उत्तर) प्रामाण्यका ज्ञान, अभ्यस्त विषयमें स्वतः होता है और अनभ्यस्त विषयमें परतः होता है। अभ्यस्त विषय कौन? और अनभ्यस्त कौन? (उत्तर) जो अपने परिचित ग्रामादिके तालाव आदिका जलादिक हो उसको अभ्यस्त कहते हैं और जो परिचित नहीं हो उसको अनभ्यस्त कहते हैं। (प्रश्न) 'स्वतः' क्या? और 'परतः' क्या? (उत्तर) जिनके द्वारा ज्ञानकी उत्पत्ति होती है, उन्हींसे ज्ञानमें रहनेवाले प्रामाण्यका भी ज्ञान होना, इसको स्वतः कहते हैं। जहां प्रामाण्यकी उत्पत्ति होनेमें ज्ञानोत्पादक कारणके सिवा अधिक किसी कारणकी अपेक्षा पड़े तो उसको परतः कहते हैं।

तत्र तावदभ्यस्तविषये जलमिदमिति ज्ञाने जाते ज्ञानस्वरूपज्ञप्तिसमय एव तद्गतं प्रामाण्यमपि ज्ञायत एव, अन्यथोत्तरक्षण एव निश्शङ्कप्रवृत्तेरयोगात्। अस्ति हि जलज्ञानोत्तरक्षण एव निश्शङ्का प्रवृत्तिः। अनभ्यस्ते तु विषये जलज्ञाने जाते जलज्ञानं मम जातमिति ज्ञानस्वरूपनिर्णयेपि प्रामाण्यनिर्णयोन्यत एव। अन्यथोत्तरकालं सन्देहानुपपत्तेः। अस्ति हि सन्देहो जलज्ञानं मम जातं तत्किं जलमुत मरीचिकेति। ततः कमलपरिमलशिशिरमन्दमरुत्प्रचारप्रभृतिभिरवधारयति, प्रमाणं प्राक्तनं जलज्ञानं, कमलपरिमलाद्यन्यथानुपपत्तेरिति।

अभ्यस्त विषयमें 'यह जल है' इस प्रकार ज्ञान होनेपर, जिस समय उस ज्ञानके स्वरूपका ज्ञान होता है उसी समय ज्ञाननिष्ठ प्रामाण्यका भी ज्ञान होजाता है। अर्थात् अभ्यस्त विषयमें जिस समय यह ज्ञान होता है कि 'मुझको जलज्ञान हुआ है' उसी समय यह भी मालूम होजाता है कि 'यह मेरा ज्ञान प्रमाण

(समीचीन) है'। यदि उसी समय 'प्रामाण्यकी उत्पत्ति नहीं होती' ऐसा माना जाय तो ज्ञानके अनंतर ही प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिये; परन्तु जलज्ञानके उत्तरक्षणमें ही निःशङ्क प्रवृत्ति होती है। अनभ्यस्त विषयमें जलज्ञानके होनेपर 'मुझको जलज्ञान हुआ है' इस प्रकार ज्ञानस्वरूपका निर्णय होनेपर भी उस ज्ञानमें प्रमाणताका निर्णय दूसरे कारणोंसे ही होता है, नहीं तो उत्तर कालमें सन्देह नहीं होना चाहिये। किंतु अनभ्यस्त विषयमें 'मुझको जो यह जलज्ञान हुआ है वह वास्तवमें जल ही है अथवा मरीचिका है' इस प्रकार सन्देह उत्पन्न होता है और पीछेसे (सन्देह होनेके बाद) कमलोंकी गन्ध, शीतल वायुका चलना, इत्यादि कारणोंको देखकर जिज्ञासु मनुष्य निश्चय करता है कि 'पहले जो मुझको जलका ज्ञान हुआ था वह वास्तविक था, क्योंकि यदि यहांपर जल न होता तो कमलकी गन्ध आदि उपलब्ध नहीं हो सकती थी'।

उत्पत्तिवत्प्रामाण्यस्य ज्ञप्तिरपि परत एवेति यौगाः। तत्र प्रामाण्यस्योत्पत्तिः परत इति युक्तम्। ज्ञप्तिः पुनरभ्यस्तविषये स्वत एवेति स्थितत्वाज्ज्ञप्तिरपि परत एवेत्यवधारणानुपपत्तिः। ततो व्यवस्थितमेतत्प्रामाण्यमुत्पत्तौ परत एव, ज्ञप्तौ तु कदाचित् स्वतः कदाचित् परत इति। तदुक्तं प्रमाणपरीक्षायां ज्ञप्तिं प्रति—

प्रमाणादिष्टसंसिद्धिरन्यथातिप्रसङ्गतः।
प्रामाण्यं तु स्वतः सिद्धमभ्यासात्परतोऽन्यथा ॥ १ ॥ इति।

प्रामाण्यकी उत्पत्तिकी तरह, ज्ञप्ति भी परतः ही होती है, ऐसा यौगमतवाले (पातञ्जल) कहते हैं। यहांपर प्रामाण्यकी उत्पत्ति परतः होती है, यह कहना तो ठीक है परन्तु जब कि यह बात पहले सिद्ध हो चुकी है कि अभ्यस्त विषयमें प्रामाण्यकी

ज्ञप्ति स्वतः ही होती है और अनभ्यस्त विषयमें परतः होती है तो अब यह सिद्ध करना कठिन है कि 'प्रामाण्यकी ज्ञप्ति भी परतः ही होती है'। अतः यह सिद्ध हुआ कि प्रामाण्यकी उत्पत्ति परतः ही होती है और ज्ञप्ति कदाचित् (अभ्यस्त विषयमें) स्वतः भी होती है, कदाचित् (अनभ्यस्त विषयमें) परतः भी होती है। ऐसा ही ज्ञप्तिके विषयमें प्रमाण परीक्षामें भी कहा है किः—

प्रमाणादिष्टसंसिद्धिरन्यथातिप्रसङ्गतः।
प्रामाण्यं तु स्वतः सिद्धमभ्यासात्परतोन्यथा ॥ १ ॥

अर्थात् जिस प्रमाणसे इष्टकी सिद्धि होती है और उसके विपरीत अर्थात् अप्रमाणसे इष्टकी सिद्धि नहीं होती, उसका प्रमाणपना अभ्यासदशामें स्वतः सिद्ध है और अनभ्यासदशामें परतः उत्पन्न होता है।

तदेवं सुव्यवस्थितेऽपि प्रमाणस्वरूपे दुरभिनिवेशवशङ्कतैः सौगतादिभिरपि कल्पितं प्रमाणलक्षणं सुलक्षणमिति येषां भ्रमस्ताननुगृह्णीमः। तथा हि। "अविसंवादि ज्ञानं प्रमाणम्" इति बौद्धाः। तदिदमविसंवादित्वमसम्भवित्वादलक्षणम्। बौद्धेन हि प्रत्यक्षमनुमानमिति प्रमाणद्वयमेवानुमन्यते। तदुक्तं न्यायबिन्दौ "द्विविधं सम्यग्ज्ञानं प्रत्यक्षमनुमानं च" इति। तत्र न तावत्प्रत्यक्षस्याविसंवादित्वं, तस्य निर्विकल्पकत्वेन स्वविषयानिश्चायकस्य समारोपविरोधित्वाभावात्। नाप्यनुमानस्य, तन्मतानुसारेण तस्याप्यपरमार्थभूतसामान्यगोचरत्वादिति।

यद्यपि पूर्वोक्त रीतिके अनुसार प्रमाणका स्वरूप सिद्ध होचुका, तो भी जो लोग, दुराग्रहके वशीभूत बौद्ध आदिकों-

के माने हुए प्रमाणलक्षणको भ्रमसे वास्तविक लक्षण मान-रहे हैं, उनपर कुछ अनुग्रह किया जाता है। बौद्ध, अविसं-वादि ज्ञानको प्रमाण मानते हैं। अर्थात् 'संशय, विपर्यय, अनध्यवसायरूप विसंवाद्से रहित ज्ञान, प्रमाण है' ऐसा बौद्धमतावलम्बी मानते हैं। परन्तु यह उन बौद्धोंका लक्षण असम्भवी होनेसे वास्तविक लक्षण नहीं है। क्योंकि, उन्होंने दो ही प्रमाण माने हैं-एक प्रत्यक्ष, दूसरा अनुमान। ऐसा ही उनके न्यायबिन्दु ग्रंथमें कहा है कि "द्विविधं सम्यग्ज्ञानं प्रत्यक्ष-मनुमानं च" अर्थात् सम्यग्ज्ञान दो प्रकारका है-प्रत्यक्ष और अनुमान। इन दोनोंमेंसे प्रत्यक्ष अविसंवादी नहीं होसकता, क्योंकि वह निर्विकल्पक है-अर्थात् उसमें घटपटादिक पदार्थ विशेषरूपसे प्रतिभासित नहीं होते। अत एव वह (प्रत्यक्ष) अपने विषयका निश्चायक भी नहीं है। और अपने विषयका निश्चायक नहीं है इसीसे वह समारोपका विरोधी भी नहीं है। यदि अनुमानको प्रमाण माना जाय तो भी ठीक नहीं है, क्योंकि वह (अनुमान) भी उनके मतानुसार केवल अपरमार्थभूत (अवास्तविक), अनेक क्षणस्थायी, स्थिरस्थूलादि-धर्मविशिष्ट सामान्यको विषय करनेवाला है। अत एव जो अवस्तुविषयक है वह प्रमाण नहीं हो सकता।

"अनधिगततथाभूतार्थनिश्चायकं प्रमाणम्" इति भाट्टाः। तदप्यव्याप्तं, तैरेव प्रमाणत्वेनाभिमतेषु धारावाहिकज्ञाने-ष्वनधिगततथाभूतार्थनिश्चायकत्वाभावात्। उत्तरोत्तरक्षणविशे-षविशिष्टार्थावभासकत्वेन तेषामनधिगतार्थनिश्चायकत्वं नाश-ङ्कनीयं, क्षणानामतिसूक्ष्माणामालक्षयितुमशक्यत्वात्।

अनधिगत अर्थात् जिसका पहले ज्ञान न हुआ हो और जो तथाभूत (यथार्थ) पदार्थका निश्चय करनेवाला हो उस ज्ञानको भट्टमतानुयायी प्रमाण मानते हैं। परन्तु इसमें अव्याप्ति

दोष आता है इसलिये उनका भी कथन ठीक नहीं है। अर्थात् यह उनका लक्षण, उनके सम्पूर्ण लक्ष्योंमें घटित नहीं होता, क्योंकि जिस धारावाहिक ज्ञानको उन्होंने प्रमाण माना है, वह पहले कभी भी निश्चित न हुए ऐसे यथार्थ अर्थका निश्चायक नहीं है। इसपर यह समाधान कहना कि "उस धारावाहिक ज्ञानमें उत्तरोत्तर क्षणविशेषोंसे (विशेष विशेष क्षण) युक्त पदार्थका प्रतिभास होता है, इसलिये वह पहलेसे अज्ञात ऐसे यथार्थ अर्थका ही निश्चायक है" ठीक नहीं है, क्योंकि क्षण अत्यन्त सूक्ष्म हैं इसलिये हम सरीखोंको उनका आभास भी नहीं होसकता।

"अनुभूतिः प्रमाणम्" इति प्राभाकराः। तदप्यसङ्गतम्, अनुभूतिशब्दस्य भावसाधनत्वे करणलक्षणप्रमाणाव्याप्तेः, करणसाधनत्वे तु भावलक्षणप्रमाणाव्याप्तेः, करणभावयोरुभयोरपि तन्मते प्रामाण्याभ्युपगमात्। तदुक्तं शालिकानाथेन "यदा भावसाधनं तदा संविदेव प्रमाणं करणसाधनत्वे त्वात्मनः सन्निकर्षः" इति।

"अनुभूति (अनुभव) प्रमाण है" ऐसा प्रभाकरमतानुयायियोंका कहना भी युक्तिसङ्गत नहीं है। क्योंकि उनके मतमें करण[2]साधन और भावसाधन[3] दोनों ही प्रकारकी अनुभूतिको प्रमाण माना गया है। सोई शालिकानाथने कहा है कि "जिस समय भावसाधन है उस समय संवित् (ज्ञान) प्रमाण है और जिस समय करणसाधन है उस समय आत्माका सन्निकर्ष प्रमाण है।" इसलिये यह लक्षण परस्परमें अव्याप्त है—अर्थात् जिस

---

१ क्योंकि धारावाहिक ज्ञान उसीको कहते हैं जो पूर्व समयमें विषय किये हुए ही पदार्थको उत्तर समयमें विषय करे। अर्थात् वह अधिगत पदार्थको ही विषय करता है, इसलिये अज्ञातका निश्चायक नहीं है। २ जिसके द्वारा अनुभव किया जाय ऐसा सन्निकर्ष। ३ अर्थात् अनुभवकरना, अनुभवनमात्र।

समय अनुभूतिशब्दको भावसाधन माना जायगा, उस समय करणसाधन प्रमाणमें, यह प्रमाणका लक्षण घटित नहीं हो सकता और जिस समय करणसाधन माना जायगा, उस समय भावसाधन प्रमाणमें यह लक्षण घटित नहीं हो सकता। अतः यह भी प्रमाणका लक्षण सुलक्षण नहीं है।

"प्रमाकरणं प्रमाणम्" इति नैयायिकाः। तदपि प्रमादकृतं लक्षणमीश्वराख्ये तदङ्गीकृत एव प्रमाणे अव्याप्तेः। अधिकरणं हि महेश्वरः प्रमाया, नतु करणम्। न चायमनुक्तोपालम्भः "तन्मे प्रमाणं शिवः" इति यौगाग्रेसरेणोदयनेनोक्तत्वाच्च। तत्परिहाराय केचन बालिशाः साधनाश्रययोरन्यतरत्वे सति प्रमाव्याप्तं प्रमाणमिति वर्णयन्ति। तथापि साधनाश्रयान्यतरपर्यालोचनायां साधनमाश्रयो वेति फलति। तथा च परस्पराव्याप्तिर्लक्षणस्य।

नैयायिकोंका सिद्धान्त है कि 'प्रमाके प्रति जो करण है वह प्रमाण है।' परन्तु उनका भी यह सिद्धान्त प्रमादकृत ही है। क्योंकि उन्हींके माने हुए ईश्वररूप प्रमाणमें इस लक्षणके घटित न होनेसे इसमें अव्याप्ति दोष आता है। क्योंकि महेश्वर प्रमाका अधिकरण होसकता है, न कि करण। उन्हों (नैयायिकों)ने महेश्वरको प्रमाण नहीं माना है केवल हम ही, मिथ्या उपालम्भ देते हों, यह बात नहीं है। क्योंकि नैयायिकोंके अग्रेसर उदयनाचार्यने कहा है कि "तन्मे प्रमाणं शिवः" अर्थात् वह शिव मुझको प्रमाण है।

कुछ अज्ञानी इस दोषका परिहार ऐसा करते हैं कि "करण और अधिकरण इन दोनोंमेंसे कोई एक जो प्रमासे व्याप्त हो वह प्रमाण है।" परन्तु यह उनका समाधान ठीक नहीं है। क्योंकि यदि इस बातपर भी विचार किया जाय कि

अन्यतर शब्दका अर्थ यहांपर क्या है? तो दोनोंमेंसे एक ही प्रमाण है ऐसा भावार्थ ही सिद्ध होगा, और दोनोंमेंसे किसी एकको प्रमाण माननेपर, लक्षण परस्पर अव्याप्त हो जायगा—अर्थात् करणको प्रमाण माननेपर अधिकरणमें लक्षण घटित नहीं होगा तथा अधिकरणको प्रमाण माननेपर, करणरूप प्रमाणमें लक्षण घटित नहीं होगा।

अन्यान्यपि पराभिमतानि प्रमाणस्य सामान्यलक्षणान्य-लक्षणत्वादुपेक्ष्यन्ते । तस्मात्स्वपरावभासनसमर्थं सविकल्पमगृहीतग्राहकं सम्यग्ज्ञानमेवाज्ञानमर्थे निवर्तयत्प्रमाणमित्यार्हतं मतम् ।

प्रवादियोंके माने हुए प्रमाणके और भी अनेक सामान्य लक्षण हैं परन्तु वे सभी अव्याप्त्यादि दोषोंसे दूषित हैं; इसलिये उन्हें छोड़ते हैं । अतः अपने और पर पदार्थके स्वरूपका प्रकाश करनेमें समर्थ, सविकल्पक, अगृहीत पदार्थका ग्रहण करनेवाला, सम्यग्ज्ञान ही आर्हतमतके अनुसार प्रमाण है यह सिद्ध हुआ। क्योंकि उसीसे वस्तुस्वरूपका अज्ञान दूर हो सकता है।

इति प्रथमः प्रकाशः ।

अथ द्वितीयः प्रकाशः ।

अथ प्रमाणविशेषस्वरूपप्रकाशनाय प्रस्तूयते—प्रमाणं द्विविधं प्रत्यक्षं परोक्षं चेति ।

प्रथम प्रकाशमें प्रमाणसामान्यका स्वरूप कहकर इस दूसरे प्रकाशमें प्रमाणविशेषके स्वरूपका प्रकाश करते हैं । उस पूर्वोक्त प्रमाणके दो भेद हैं—एक प्रत्यक्ष, दूसरा परोक्ष।

तत्र विशदप्रतिभासं नाम प्रत्यक्षम् । इह प्रत्यक्षं लक्ष्यं, विशदप्रतिभासत्वं लक्षणम् । यस्य प्रमाणभूतस्य ज्ञानस्य प्रतिभासो विशदस्तत्प्रत्यक्षमित्यर्थः ।

पूर्वोक्त दोनों प्रकारके प्रमाणोंमेंसे जो विशदप्रतिभासात्मक हो, उसको प्रत्यक्ष कहते हैं । यहांपर प्रत्यक्ष लक्ष्य है और विशद प्रतिभासत्व उसका लक्षण है । अर्थात् जिस प्रमाणभूत ज्ञानका प्रतिभास विशद (निर्मल) हो उसको प्रत्यक्ष कहते हैं ।

किमिदं विशदप्रतिभासत्वं नाम? उच्यते,—ज्ञानावरणस्य क्षयाद्विशिष्टक्षयोपशमाद्वा शब्दानुमानाद्यसम्भवि यन्नैर्मल्यमनुभवसिद्धम् । दृश्यते खल्वग्निरस्तीत्याप्तवचनाद्धूमादिलिङ्गाच्चोत्पन्नाज्ज्ञानादयमग्निरित्युत्पन्नस्यैन्द्रियिकस्य ज्ञानस्य विशेषः । स एव नैर्मल्यं वैशद्यं स्पष्टत्वमित्यादिभिः शब्दैरभिधीयते । तदुक्तं भगवद्भिरकलङ्कदेवैर्न्यायविनिश्चये "प्रत्यक्षलक्षणं प्राहुः स्पष्टं साकारमञ्जसा" इति । विवृतं च स्याद्वादविद्यापतिना "निर्मलप्रतिभासत्वमेव स्पष्टत्वम् । स्वानुभवप्रसिद्धं चैतत्सर्वस्यापि परीक्षकस्येति नातीव निर्बाध्यते" इति । तस्मात् सुष्ठूक्तं विशदप्रतिभासात्मकं ज्ञानं प्रत्यक्षमिति ।

विशद प्रतिभासन किसको कहते हैं? इसका उत्तर सुनो, ज्ञानावरण कर्मके क्षयसे अथवा विशेष क्षयोपशमसे उत्पन्न होनेवाली, जो कि शब्द अथवा अनुमानके द्वारा कदाचित् भी संभव न हो सकती हो, निर्मलताको विशदप्रतिभासन कहते हैं । वह सभी परीक्षकोंको अपने २ अनुभवसे सिद्ध होता है । किसी यथार्थवक्ताके वाक्योंसे अथवा धूमादिक लिङ्गके देखनेसे उत्पन्न हुए 'यह अग्नि है' इस ज्ञानकी अपेक्षा, चक्षुरादि इन्द्रियोंसे होने-

वाले 'यह अग्नि है' इस प्रकारके ज्ञानमें विशेषता है; यह बात सभीके अनुभवमें आती है। जो यह विशेषता है उसीको निर्मलता, विशदता, स्पष्टता आदि शब्दोंसे कहते हैं। यही श्रीअकलङ्क भगवानने न्यायविनिश्चयालङ्कारमें कहा है कि "स्पष्ट (निर्मल), साकार (सविकल्प), अञ्जसा (यथार्थ) ज्ञानको प्रत्यक्ष कहते हैं"। इसका स्याद्वादविद्यापति श्रीविद्यानन्दी स्वामीने इस प्रकार खुलासा किया है कि "निर्मल प्रतिभासको ही स्पष्टता कहते हैं और यह सभी परीक्षकोंको अनुभवसे सिद्ध है इसलिये इसका विशेष विवेचन हम नहीं करते।" इस प्रकार हमने जो प्रत्यक्षका विशदप्रतिभासत्व लक्षण कहा वह ठीक है।

"कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षम्" इति ताथागताः। अत्र हि कल्पनापोढपदेन सविकल्पकस्य व्यावृत्तिः, अभ्रान्तमिति पदेन त्वाभासस्य। तथा च, समीचीनं निर्विकल्पकं प्रत्यक्षमित्युक्तं भवति। तदेतद्बालचेष्टितम्। निर्विकल्पकस्य प्रामाण्यमेव दुर्लभं, समारोपाविरोधित्वात्। कुतः प्रत्यक्षत्वं व्यवसायात्मकस्यैव प्रामाण्यव्यवस्थापनात्।

बौद्ध "कल्पनापोढ (विशेष पदार्थके संकल्परहित, निर्विकल्पक) और अभ्रान्त ज्ञान प्रत्यक्ष है" ऐसा कहते हैं। यहां पर कल्पनापोढशब्दसे सविकल्पककी और अभ्रान्तशब्दसे आभासकी निवृत्ति की गई है, इससे यह फलितार्थ सिद्ध होता है कि 'समीचीन निर्विकल्पक ही प्रत्यक्ष है।' परन्तु इस प्रकारका लक्षण करना बालक्रीड़ामात्र है। क्योंकि समारोप (संशयादि) का अविरोधी होनेसे निर्विकल्पक जब प्रमाण ही नहीं हो सकता, तो प्रत्यक्ष कैसे हो सकेगा? क्योंकि निश्चयात्मक ही ज्ञान प्रमाण होता है।

ननु 'निर्विकल्पकमेव प्रत्यक्षप्रमाणमर्थजत्वात्। तदेव हि परमार्थं सत् स्वलक्षणजन्यं, न तु सविकल्पकं, तस्यापरमार्थ-

भूतसामान्यविषयत्वेनार्थजत्वाभावात्' इति चेन्न, अर्थस्यालोकवज्ज्ञानकारणत्वानुपपत्तेः।

(शङ्का) निर्विकल्पक ही प्रत्यक्षप्रमाण हो सकता है। क्योंकि वह अर्थजन्य है–अर्थात् वही (निर्विकल्पक) परमार्थ है और अपने विषयभूत नीलादिकसे उत्पन्न होनेवाला है। सविकल्पक प्रत्यक्षप्रमाण नहीं हो सकता, क्योंकि वह अपरमार्थभूत सामान्यको विषय करनेवाला है, इस लिये अर्थज नहीं है।

(उत्तर) यह शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि आलोककी तरह अर्थ भी ज्ञानके प्रति कारण नहीं है। अर्थात् वह अर्थज तो तब होता जब कि ज्ञानके प्रति अर्थ कारण होता; परन्तु आलोककी तरह अर्थ भी ज्ञानके प्रति कारण सिद्ध नहीं होता।

तद्यथा, अन्वयव्यतिरेकगम्यो हि कार्यकारणभावः। तत्रालोकस्तावन्न ज्ञानकारणं तदभावेपि नक्तञ्चराणां मार्जारादीनां ज्ञानोत्पत्तेः, तद्भावेपि घूकादीनां तदनुत्पत्तेः। तद्वदर्थोपि न ज्ञानकारणं, तदभावेपि केशमशकादिज्ञानोत्पत्तेः। तथा च, कुतोर्थजत्वं ज्ञानस्य? तदुक्तं परीक्षामुखे "नार्थालोकौ कारणम्" इति। प्रामाण्यस्य चार्थाव्यभिचार एव निबन्धनं, न त्वर्थजन्यत्वं, स्वसंवेदनस्य विषयाजन्यत्वेपि प्रामाण्याभ्युपगमात्। न हि किञ्चित्स्वस्मादेव जायते।

जिन दो पदार्थोंमें परस्पर अन्वय व्यतिरेक घटित होता है उन्हीं दो पदार्थोंमें कार्यकारणभाव संभव माना जाता है। अर्थात् जिसके रहनेपर नियमसे कार्य उत्पन्न हो उसको अन्वय कहते हैं। और जिसके अभावमें नियमसे कार्य न हो उसको व्यतिरेक कहते हैं। किसी कार्यकी उत्पत्ति कहीं हुई हो तो वहांपर जो अवश्य विद्यमान रहै और जहां वह विद्यमान न रहता

हो वहां कार्य की उत्पत्ति भी न हो तो उसका कार्यके प्रति कार्य-कारणभाव किंवा अन्वयव्यतिरेक संबंध माना जाता है। जिन दोनोंमें इस प्रकारसे अन्वयव्यतिरेक घटित होते हैं उन दोनोंमें कार्यकारणभाव होता है। आलोकका ज्ञानके प्रति अन्वय तथा व्यतिरेक घटित नहीं होता इस लिये वह ज्ञानके प्रति कारण नहीं है। क्योंकि बिल्ली आदिक कुछ रात्रिंचरोंको रात्रिमें भी ज्ञान होता है जब कि आलोक नही रहता और आलोकके रहते हुए भी उल्लू आदिकको ज्ञान नहीं होता इसलिये अन्वयनियम (कार्यसत्त्वे कारणसत्त्वरूप) तथा व्यतिरेकनियम (कारणाभावे कार्याभावरूप) संभव नहीं होता। इसी प्रकार केशमशकादिके न रहने पर भी केशमशकादिका ज्ञान होनेसे अर्थके साथ ज्ञानका कार्यकारणभाव संबंध माननेमें व्यतिरेक नियमका भंग होता है। अतः अर्थ भी ज्ञानके प्रति कारण नहीं है। इस प्रकार जब आलोक और अर्थ ज्ञानके प्रति कारण नहीं हो सकते हैं तब ज्ञान, अर्थसे उत्पन्न होनेवाला किस प्रकार हो सकता है? इसी लिये परीक्षामुखमें कहा है कि "अर्थ और आलोक ज्ञानके प्रति कारण नहीं है।" ज्ञानकी प्रमाणता तो ज्ञानमें जो विषय हुआ है उसमें विपरीतता न होने मात्रसे ही सिद्ध हो जाती है, न कि पदार्थसे उत्पन्न होनेसे।

"मैं सुखी हूं" "मैं दुःखी हूं" इस प्रकारका स्वसंवेदनज्ञान अर्थज [विषयसे उत्पन्न होनेवाला] न होकर भी प्रमाण माना है इस लिये भी जो अर्थजन्य है वही प्रमाण है यह कहना ठीक नहीं है। स्वसंवेदन अपनेसे ही उत्पन्न होता है एतावता अर्थजन्य है यह कहना भी ठीक नहीं है। क्योंकि कोई भी अपने आपसे उत्पन्न होता नहीं माना जाता और न संभव ही है।

नन्वतज्जन्यस्यान्यस्य कथं तत्प्रकाशकत्वमिति चेत्, घटाद्यजन्यस्यापि प्रदीपस्य तत्प्रकाशकत्वं दृष्ट्वा सन्तोष्टव्यमायुष्मता। अथ कथमयं विषयं प्रति नियमः? यदुक्तं घटज्ञानस्य

घट एव विषयो, न पर इति । अर्थजत्वं हि विषयं प्रति नियमकारणं, तज्जन्यत्वात् । तद्विषयमेव चैतदिति । तत्तु भवता नाभ्युपगम्यते । इति चेत्, योग्यतैव विषयं प्रति नियमकारणमिति ब्रूमः ।

(शङ्का) जब ज्ञान, पदार्थसे उत्पन्न होनेवाला ही नहीं है, तो अर्थसे सर्वथा भिन्न होकर वह (ज्ञान) उसका (अर्थका) प्रकाशक ही कैसे हो सकता है?

(उत्तर) जिस प्रकार दीपक, घटादिकसे उत्पन्न नहीं होता तथापि वह घटादिकोंको प्रकाशित करता है। इस दृष्टान्तको देखकर तुमको संतोष करना चाहिये। अर्थात् ज्ञान दीपककी तरह विषयसे उत्पन्न होनेवाला न होकर भी अपने विषयको प्रकाशित करता है।

(शङ्का) ज्ञानका विषयके प्रति नियम किस प्रकार होता है कि घटज्ञानका विषय घट ही है, पट नहीं? हम तो अर्थसे उत्पन्न होना ही विषयके प्रति नियमका कारण मानते हैं। अर्थात् जो ज्ञान जिस विषयसे उत्पन्न हुआ हो वह उसी पदार्थको जनावेगा; परन्तु तुम तो ऐसा मानते नहीं—अर्थात् ज्ञानकी अर्थसे उत्पत्ति नहीं मानते, फिर विषयका नियम किस प्रकार होगा?

(उत्तर) उस विषयके प्रति नियमका कारण योग्यता है। अर्थात् जिस विषयकी योग्यता जहां होती है वहां उसी विषयका ज्ञान होता है।

का नाम योग्यतेति, उच्यते—स्वावरणक्षयोपशमः। तदुक्तं "स्वावरणक्षयोपशमलक्षणयोग्यतया हि प्रतिनियतमर्थं व्यवस्थापयति" इति । एतेन तदाकारत्वात्तत्प्रकाशकत्वमित्यपि प्रत्युक्तम्, अतदाकारस्यापि प्रदीपादेस्तत्प्रकाशकत्वदर्शनात् । ततस्तदाकारवत्तज्जन्यत्वमप्रयोजकं प्रामाण्ये । सविकल्पक-

विषयभूतस्य सामान्यस्य परमार्थत्वमेवाबाधितत्वात् । प्रत्युत सौगताभिमत एव स्वलक्षणे विवादः । तस्मान्न निर्विकल्पकरूपत्वं प्रत्यक्षस्य सन्निकर्षस्य च यौगाभ्युपगतस्याचेतनत्वात्कुतः प्रमितिकरणत्वं कुतस्तरां प्रमाणत्वं कुतस्तमां प्रत्यक्षत्वम्?

(प्रश्न) योग्यता किसको कहते हैं?

(उत्तर) अपने अपने आवरणके, अर्थात्—मतिज्ञानावरण और श्रुतज्ञानावरणमेंसे विवक्षित इंद्रियसंबंधी आवरणादि कर्मके क्षयोपशमको योग्यता कहते हैं। इसीलिये ऐसा कहा है कि "अपने अपने आवरणकी क्षयोपशमरूप योग्यतासे ज्ञानमें प्रतिनियत अर्थकी व्यवस्था होती है।" जो लोग ऐसा कहते हैं कि "ज्ञान विषयाकार होनेसे ही विषयका प्रकाश करता है" उनका भी खण्डन इस पूर्वोक्त कथनसे हो गया, क्योंकि दीपक, घटाकार न होकर भी घटका प्रकाश करता है। अर्थात् दीपककी तरह ज्ञान भी विषयाकार न होकर यदि विषयका प्रकाश करे तो इसमें कोई बाधा नहीं है। इसीलिये अर्थाकारताकी तरह अर्थजन्यता भी ज्ञानका प्रामाण्य सिद्ध करनेमें कारण नहीं है। और यह बात जो तुमने कही थी कि "सविकल्पकका विषयभूत सामान्य अपरमार्थ है इसलिये निर्विकल्पकको ही प्रमाण मानना चाहिये" सो यह भी ठीक नहीं है। क्योंकि सविकल्पकका विषयभूत सामान्य परमार्थ ही है। इसमें किसी प्रमाणसे कोई बाधा नहीं आती। प्रत्युत बौद्धके माने हुए स्वलक्षणमें ही विवाद है। इसलिये निर्विकल्पक प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। यौगोंका माना हुआ सन्निकर्ष अचेतन होनेसे जब प्रमितिके प्रति करण ही नहीं हो सकता तो प्रमाण, या उसमें भी प्रत्यक्ष किस तरह हो सकता है?

किञ्च रूपप्रमितेरसन्निकृष्टमेव चक्षुर्जनकम् । अप्राप्यकारित्वात्तस्य । ततः सन्निकर्षाभावेपि साक्षात्कारिप्रमोत्पत्तेर्न सन्निकर्षरूपतैव प्रत्यक्षस्य । न चाप्राप्यकारित्वं चक्षुषोऽप्रसिद्धं, प्रत्यक्षतस्तथैव प्रतीतेः । ननु प्रत्यक्षागम्यामपि चक्षुषो विषयप्राप्तिमनुमानेन साधयिष्यामः परमाणुवत् । यथा प्रत्यक्षासिद्धोपि परमाणुः कार्यान्यथानुपपत्त्यानुमानेन साध्यते, तथा चक्षुः प्राप्तार्थप्रकाशकं बहिरिन्द्रियत्वात्त्वगिन्द्रियवदित्यनुमानात्प्राप्तिसिद्धिः । प्राप्तिरेव हि सन्निकर्षः । ततो न सन्निकर्षस्याव्याप्तिरिति चेन्न, अस्यानुमानाभासत्वात् ।

दूसरी बात यह है कि चक्षु अप्राप्यकारी है । वह पदार्थसे सम्बन्ध न करनेपर भी रूपज्ञानकी उत्पत्तिका कारण होता है, इसलिये उससे सन्निकर्षके अभावमें भी प्रत्यक्षज्ञान होता है । अत एव यह कहना भी कि "सन्निकर्षस्वरूप ही प्रत्यक्ष प्रमाण है" युक्तियुक्त नहीं है । चक्षुका अप्राप्यकारिपना प्रत्यक्षसे सिद्ध है इसलिये उसको असिद्ध नहीं कह सकते । अर्थात् यह प्रत्यक्षसे सिद्ध है कि चक्षुका रूपसे सम्बन्ध न होनेपर भी रूपका प्रत्यक्ष होता है । अतः चक्षु अप्राप्यकारी ही है ।

(शङ्का) यद्यपि चक्षु प्राप्यकारी है यह प्रत्यक्षसे सिद्ध नहीं है तथापि हम उसको परमाणुकी तरह अनुमानसे सिद्ध करते हैं । अर्थात् जिस प्रकार परमाणु प्रत्यक्षसे सिद्ध न होनेपर भी अनुमानसे सिद्ध किया जाता है कि यदि परमाणु नहीं माना जाय तो स्कन्धरूप कार्य नहीं बनसकता, उसी प्रकार चक्षु प्राप्यकारी है, अर्थात् प्राप्त अर्थका प्रकाशक है यह प्रत्यक्षसे सिद्ध नहीं है तो भी अनुमानसे सिद्ध होता है । क्योंकि वह त्वगिन्द्रियकी तरह बहिरिन्द्रिय है । इस अनुमानसे चक्षुकी

अर्थके साथ प्राप्ति (सम्बन्ध) सिद्ध होती है। इस प्राप्तिको ही सन्निकर्ष कहते हैं। इसलिये सन्निकर्षरूप प्रत्यक्षके लक्षणमें अव्याप्ति दोष नहीं आता।

(उत्तर) चक्षुकी प्राप्यकारिता पूर्वोक्त रीतिके अनुसार अनुमानसे भी सिद्ध नहीं हो सकती, क्योंकि यह अनुमान वास्तविक अनुमान नहीं है—अनुमानाभास है।

तद्यथा चक्षुरित्यत्र कः पक्षोऽभिप्रेतः किं लौकिकं चक्षुरुतालौकिकम्? आद्ये हेतोः कालात्ययापदिष्टत्वं गोलकाक्षस्य चक्षुषो विषयप्राप्तेः प्रत्यक्षबाधितत्वात्। द्वितीये त्वाश्रयासिद्धः, अलौकिकस्य चक्षुषोऽद्याप्यसिद्धेः। शाखासुधादीधितिसमानकालग्रहणाद्यन्यथानुपपत्तेः चक्षुरप्राप्यकारीति निश्चीयते। तदेवं सन्निकर्षाभावेपि चक्षुषा रूपप्रतीतिर्जायते इति सन्निकर्षोऽव्यापकत्वात् प्रत्यक्षस्य स्वरूपं न भवतीति स्थितम्।

इस अनुमानमें कौनसे चक्षुको पक्ष[1] किया है? लौकिकचक्षुको अथवा अलौकिकचक्षुको? यदि लौकिकचक्षुको पक्ष किया है तो हेतु कालात्ययापदिष्ट[2] नामदोषयुक्त हो गया, क्योंकि गोलकरूप चक्षुका विषयके साथ सम्बन्ध प्रत्यक्षसे बाधित है। यदि अलौकिकचक्षुको पक्ष किया है तो हेतु आश्रयासिद्ध[3] है क्योंकि पक्षरूप अलौकिकचक्षु अभीतक किसी भी प्रमाणसे सिद्ध नहीं हुआ।

अतः यह निश्चय होता है कि चक्षु अप्राप्यकारी ही है, क्योंकि ऐसा न माननेसे वृक्षकी शाखा और चन्द्रमा इन

---

१ जहांपर साध्यकी सिद्धि की जाय उसको पक्ष कहते हैं। २ जो हेतु प्रत्यक्ष प्रमाणसे बाधित हो उसको कालात्ययापदिष्ट कहते हैं। ३ पक्षमें जिसकी सत्ता सिद्ध नहीं।

दोनोंका एक कालमें ग्रहण नहीं होसकता। किंतु ग्रहण होता देखा जाता है। इस प्रकार सन्निकर्षके अभावमें भी चक्षुसे रूपका ज्ञान होता है, अतः यह सिद्ध हुआ कि अव्यापक होनेसे प्रत्यक्षका स्वरूप, सन्निकर्ष नहीं होसकता।

अस्य च प्रमेयस्य प्रपञ्चः प्रमेयकमलमार्तण्डे सुलभः। सङ्ग्रहग्रन्थत्वात्तु नेह प्रतन्यते। एवञ्च न सौगताभिमतं निर्विकल्पकं प्रत्यक्षम्। नापि यौगाभिमत इन्द्रियार्थसन्निकर्षः। किं तर्हि? विशदप्रतिभासं ज्ञानमेव प्रत्यक्षं सिद्धम्।

इस विषयको प्रमेयकमलमार्तण्डमें विस्तारपूर्वक लिखा है; परन्तु यह सङ्ग्रह ग्रन्थ है अर्थात् इसमें बालबोधके लिये छोटी छोटी सरल युक्तियोंद्वारा बहुत विषयोंका सङ्ग्रह किया गया है इसलिये इस विषयका यहांपर विस्तार नहीं किया जाता। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि सौगतोंका (बौद्धोंका) माना हुआ निर्विकल्पक, तथा यौगोंका माना हुआ इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष, प्रत्यक्ष नहीं है किन्तु निर्मलप्रतिभासस्वरूप ज्ञान ही प्रत्यक्ष है।

तत्प्रत्यक्षं द्विविधं सांव्यवहारिकं पारमार्थिकं चेति। तत्र देशतो विशदं सांव्यवहारिकं प्रत्यक्षम्। यज्ज्ञानं देशतो विशदमीषन्निर्मलं तत्सांव्यवहारिकप्रत्यक्षमित्यर्थः। तच्चतुर्विधम्—अवग्रह, ईहा, अवायो, धारणा चेति।

उस प्रत्यक्षके दो भेद हैं एक सांव्यवहारिक, दूसरा पारमार्थिक। जो थोड़ासा विशद है उसको सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहते हैं अर्थात् जो ज्ञान परिपूर्ण विशद न हो—कुछ कुछ निर्मल हो वह सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा जाता है। उसके भी चार भेद हैं, अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा।

---

१ अव्याप्तिदोषसहित।

तत्रेन्द्रियार्थसमवधानसमनन्तरसमुत्थसत्तालोचनानन्तरभावी सत्तावान्तरजातिविशिष्टवस्तुग्राही ज्ञानविशेषोऽवग्रहः। यथायं पुरुष इति। नायं संशयः, विषयान्तरव्युदासेन स्वविषयनिश्चायकत्वात्। तद्विपरीतलक्षणो हि संशयः। यद्राजवार्तिकम् "अनेकार्थानिश्चितापर्युदासात्मकः संशयः, तद्विपरीतोऽवग्रहः" इति। भाष्यं च "संशयो हि निर्णयविरोधी न त्ववग्रहः" इति।

(१) इन्द्रिय और अर्थकी योग्यक्षेत्रमें प्राप्ति होनेपर उत्पन्न होनेवाले महासत्ताविषयक दर्शनके अनन्तर अवान्तरसत्ताजातिसे युक्त वस्तुको ग्रहण करनेवाला ज्ञानविशेष अवग्रह कहलाता है। अर्थात् सत्ताके दो भेद हैं एक महासत्ता दूसरी अवान्तरसत्ता। इन्द्रिय और अर्थकी योग्यक्षेत्रमें स्थिति होनेपर पहले महासत्ताको विषय करनेवाला दर्शन उत्पन्न होता है फिर उसके अनन्तर ही प्रगट होनेवाले, अवान्तरसत्ताजातिसे युक्त वस्तुको विषयकरनेवाले ज्ञानको अवग्रह कहते हैं। जैसे कि 'यह पुरुष है।' इस ज्ञानको संशय नहीं कह सकते क्योंकि यह (अवग्रह) विषयान्तरका निराकरण और अपने विषयका निश्चय करानेवाला है और संशय इससे विपरीत लक्षणवाला होता है। इसीलिये राजवार्तिकमें कहा है कि "संशयज्ञान, अनेक अर्थोंमेंसे किसीका भी निश्चय, और अपने विषयसे भिन्न विषयका निराकरण नहीं करता। अवग्रह इससे विपरीत है"। इसी प्रकार भाष्यमें (गन्धहस्तिमहाभाष्यमें) भी कहा है कि "संशय निर्णयका विरोधी है, किंतु अवग्रह नहीं।"

अवग्रहगृहीतार्थसमुद्भूतसंशयनिरासाय यत्न ईहा। यथा पुरुष इति निश्चितेऽर्थे किमयं दाक्षिणात्य उतौदीच्य इति संशये सति दाक्षिणात्येन भवितव्यमिति तन्निरासायेहाख्यं

ज्ञानं जायत इति। भाषादिविशेषनिर्ज्ञानाद्याथात्म्यावगमन-मवायः। यथा दाक्षिणात्य एवायमिति। कालान्तराविस्मरणयोग्यतया तस्यैव ज्ञानं धारणा। यद्वशादुत्तरकालेपि स इत्येवं स्मरणं जायते।

(२) अवग्रहके द्वारा जानेहुए पदार्थमें होनेवाले संशयको दूर करनेवाले ज्ञानको ईहा कहते हैं। जैसे कि अवग्रहसे निश्चित पुरुषरूप अर्थमें इस प्रकार संशय होनेपर कि 'यह पुरुष दाक्षिणात्य है अथवा औदीच्य (उत्तरमें रहनेवाला)?' इस संशयके दूर करनेके लिये उत्पन्न होनेवाले 'यह दाक्षिणात्य होना चाहिये' इसप्रकारके ज्ञानको ईहा कहते हैं। (३) भाषा आदिकका विशेष ज्ञान होनेपर उसके यथार्थस्वरूपको पूर्वज्ञान (ईहा) की अपेक्षा विशेषरूपसे दृढ़ करनेवाले ज्ञानको अवाय कहते हैं। जैसे कि 'यह दाक्षिणात्य ही है' इसप्रकारका ज्ञान होना। (४) उसी पदार्थका इस योग्यतासे (दृढरूपसे) ज्ञान होना कि जिससे कालान्तरमें भी उस विषयका विस्मरण न हो उसको धारणा कहते हैं। अर्थात् जिसके निमित्तसे उत्तरकालमें भी 'वह' ऐसा स्मरण हो सके उसको धारणा कहते हैं।

ननु पूर्वपूर्वज्ञानगृहीतार्थग्राहकत्वादेतेषां धारावाहिकवद-प्रामाण्यप्रसङ्ग इति चेन्न विषयभेदेनागृहीतग्राहकत्वात्। तथाहि। योऽवग्रहस्य विषयो नासावीहायाः। यः पुनरीहाया नायमवायस्य, यश्चावायस्य नैष धारणाया इति परिशुद्धप्रतिभानां सुलभमेवैतत्। तदेतदवग्रहादिचतुष्टयमपि यदेन्द्रियेण जन्यते तदेन्द्रियप्रत्यक्षमित्युच्यते यदा पुनरनिन्द्रियेण तदा-निन्द्रियप्रत्यक्षं गीयते।

'ईहादिकज्ञान, पूर्व पूर्व अवग्रहादिक ज्ञानके द्वारा जाने हुए पदार्थको ही विषय करते हैं या जानते हैं इस लिये ये

(ईहादिक) धारावाहिकबुद्धिकी तरह अप्रमाण हैं' यह शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि इन अवग्रहादिक ज्ञानोंमें विषयभेदकी अपेक्षासे अगृहीतग्राहकता ही है—जो अवग्रहका विषय है वह ईहाका नहीं, जो ईहाका है वह अवायका नहीं, और जो अवायका है वह धारणाका नहीं। जिनकी प्रतिभा निर्मल है, उनकी समझमें यह भेद बहुत सुलभतासे आसकता है[1]। ये अवग्रहादिक चारों ही ज्ञान जब इन्द्रियोंके द्वारा उत्पन्न होते हैं तब इनको इन्द्रियप्रत्यक्ष कहते हैं। और जब मनके द्वारा उत्पन्न होते हैं तब इनको अनिन्द्रियप्रत्यक्ष (मानस प्रत्यक्ष) कहते हैं।

इन्द्रियाणि स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणि पञ्च। अनिन्द्रियं तु मनः। तद्द्वयनिमित्तकमिदं लोकसंव्यवहारे प्रत्यक्षमिति प्रसिद्धत्वात्सांव्यवहारिकप्रत्यक्षमुच्यते। तदुक्तम् "इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तं देशतः सांव्यवहारिकम्" इदं चामुख्यप्रत्यक्षमुपचारसिद्धत्वात्। वस्तुतस्तु परोक्षमेव मतिज्ञानत्वात्। कुतो नु खल्वेतन्मतिज्ञानं परोक्षमित्युच्यते "आद्ये परोक्ष"मिति सूत्रणात्। आद्ये मतिश्रुते परोक्षमिति हि सूत्रार्थः। उपचारमूलं पुनरत्र देशतो वैशद्यमिति कृतं विस्तरेण।

इन्द्रियोंके पांच भेद हैं—स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु, और

---

१ यह पुरुष है इस प्रकार अवग्रहमें सामान्यरूपसे जिस पदार्थका प्रतिभास होता है उस ही पदार्थके विशेष अंशोंमें इस प्रकार संशय होनेपर कि 'यह पुरुष तो है परन्तु दक्षिणका रहनेवाला है अथवा उत्तरका रहनेवाला' इस संशयको दूर करनेके लिये एक विशेष अंशको विषयकरनेवाले ज्ञानको ईहा कहते हैं। जैसे कि यह दाक्षिणात्य है। इसहीके दृढ ज्ञानको अवाय कहते हैं जैसे यह दाक्षिणात्य ही है। कालान्तरमें अविस्मरणके निमित्तभूत ज्ञानको धारणा (संस्कार) कहते हैं। इसप्रकार इनके विषयोंमें अन्तर है।

श्रोत्र। अनिन्द्रिय एक मन है। इन दोनोंके निमित्तसे जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह लोकव्यवहारमें प्रत्यक्षशब्दसे प्रसिद्ध है इसलिये उसको सांव्यवहारिकप्रत्यक्ष कहते हैं। इसीलिये ऐसा कहा है कि "इन्द्रिय और अनिन्द्रियसे होनेवाले ज्ञानको एकदेश विशद (निर्मल) होनेसे सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहते हैं।" इसको अमुख्य प्रत्यक्ष भी कहते हैं, क्योंकि यह वास्तवमें प्रत्यक्ष नहीं है किंतु उपचारसे है। वास्तवमें परोक्ष ही है, क्योंकि मतिज्ञान है। (प्रश्न) मतिज्ञानको परोक्ष क्यों कहते हैं?

(उत्तर) तत्त्वार्थमहाशास्त्रका ऐसा सूत्र है कि "आद्ये परोक्षम्" अर्थात् आदिके मतिज्ञान और श्रुतज्ञान दोनों ही परोक्ष हैं। इस ज्ञानको उपचारसे जो प्रत्यक्ष कहा है उस उपचारका भी मूलकारण यही है कि वह देशतः विशद अर्थात् कुछ निर्मल है।

सर्वतो विशदं पारमार्थिकं प्रत्यक्षम्। यज्ज्ञानं साकल्येन स्पष्टं तत्पारमार्थिकप्रत्यक्षं मुख्यप्रत्यक्षमिति यावत्। तद्द्विविधं सकलं विकलं च। तत्र कतिपयविषयं विकलम्। तदपि द्विविधमवधिज्ञानं मनःपर्ययज्ञानं चेति। तत्रावधिज्ञानावरणक्षयोपशमाद्वीर्यान्तरायक्षयोपशमसहकृताज्जातं रूपिद्रव्यमात्रविषयमवधिज्ञानम्। मनःपर्ययज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमसमुत्थं परमनोगतार्थविषयं मनःपर्ययज्ञानम्। मतिज्ञानस्येवावधिमनःपर्यययोरवान्तरभेदास्तत्त्वार्थवार्तिकराजवार्तिकश्लोकवार्तिकभाष्याभ्यामवगन्तव्याः।

जो सर्वथा विशद है उसको पारमार्थिकप्रत्यक्ष कहते हैं। अर्थात् जो ज्ञान सम्पूर्णरूपसे स्पष्ट (निर्मल) है उसको पारमार्थिकप्रत्यक्ष अथवा मुख्यप्रत्यक्ष कहते हैं। उसके दो भेद हैं, एक सकलप्रत्यक्ष दूसरा विकलप्रत्यक्ष। जो थोड़ेसे वस्तु और

पर्यायोंको विषय करता है; अर्थात् जो सम्पूर्ण द्रव्यों और पर्यायोंको विषय नहीं कर सकता उसको विकलप्रत्यक्ष कहते हैं। उसके भी दो भेद हैं, एक अवधिज्ञान दूसरा मनःपर्ययज्ञान। वीर्यान्तरायकर्मके क्षयोपशमके साथ अवधिज्ञानावरणकर्मका क्षयोपशम होनेसे उत्पन्न हुआ, केवल रूपीद्रव्यको (पुद्गलको) विषयकरनेवाला ज्ञान अवधिज्ञान कहलाता है। जो मनःपर्यय-ज्ञानावरण तथा वीर्यान्तराय कर्मके क्षयोपशमसे दूसरेके मनमें स्थित पदार्थको विषय करनेवाला ज्ञान उत्पन्न होता है उसको मनःपर्यय कहते हैं। मतिज्ञानकी तरह अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञानके अवान्तर भेदोंको, तत्त्वार्थसूत्रकी वार्तिकोंपर रचे हुए भाष्यरूप राजवार्तिक तथा श्लोकवार्तिकद्वारा समझना चाहिये।

सर्वद्रव्यपर्यायविषयं सकलम् । तच्च घातिसङ्घातनिरवशेषघातनात्समुन्मीलितं केवलज्ञानमेव "सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य" इत्याज्ञापितत्वात् । तदेवमवधिमनःपर्ययकेवलज्ञानत्रयं सर्वतो वैशद्यात्पारमार्थिकं प्रत्यक्षम् । सर्वतो वैशद्यं चात्ममात्रसापेक्षत्वात् ।

जो सम्पूर्ण द्रव्य और उनके सम्पूर्ण ही पर्यायोंको विषयकरनेवाला ज्ञान है उसको सकलप्रत्यक्ष कहते हैं। और वह प्रत्यक्ष [1]चारों घातिकर्मोंके सर्वथा अभावसे उत्पन्न होनेवाला ऐसा केवलज्ञान ही है। क्योंकि तत्त्वार्थाधिगममें ऐसा लिखा है कि "सम्पूर्ण द्रव्य और सम्पूर्ण पर्यायोंमें केवलज्ञानकी प्रवृत्ति है"। इस प्रकार अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, केवलज्ञान, ये तीनों ही सर्वथा विशद होनेसे पारमार्थिकप्रत्यक्ष कहे जाते हैं। सर्वथा विशदताका कारण यह है कि ये अपनी उत्पत्तिमें इन्द्रियादिक परवस्तुकी सहायता[2] नहीं लेते।

---

१ ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय। २ क्योंकि ऐसा कहा है

नन्वस्तु केवलस्य पारमार्थिकत्वमवधिमनःपर्यययोस्तु न युक्तं विकलत्वादिति चेन्न साकल्यवैकल्ययोरत्र विषयौपाधिकत्वात्। तथाहि, सर्वद्रव्यपर्यायविषयमिति केवलं सकलम्। अवधिमनःपर्ययौ तु कतिपयविषयत्वाद्विकलौ। नैतावता तयोः पारमार्थिकत्वच्युतिः, केवलवत्तयोरपि वैशद्यं स्वविषये साकल्येन समस्तीति तावपि पारमार्थिकावेव।

(शङ्का) केवलज्ञान पारमार्थिकप्रत्यक्ष है यह कहना तो ठीक है परन्तु अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान, पारमार्थिकप्रत्यक्ष नहीं होसकते, क्योंकि ये विकल हैं। अर्थात् ये सम्पूर्ण द्रव्यपर्यायोंको विषय नहीं करते। (उत्तर) यह शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि यहांपर साकल्य और वैकल्य ये दोनों ही विशेषण विषयकी अपेक्षासे माने जाते हैं। अर्थात् केवलज्ञान सम्पूर्ण द्रव्यपर्यायोंको विषय करता है इसलिये उसको सकल कहते हैं। अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान कुछ थोड़ेसे पदार्थोंको विषय करते हैं इसलिये इनको विकल कहते हैं। परन्तु इससे इनके पारमार्थिकत्वमें कुछ हानि नहीं है। क्योंकि जिस प्रकार केवलज्ञानका अपने नियत विषयमें सर्वथा वैशद्य है उसी प्रकार इन दोनोंका भी अपने विषयमें सर्वथा वैशद्य है। इसलिये ये दोनों पारमार्थिक ही हैं।

कि ''असहायं प्रत्यक्षं भवति परोक्षं सहायसापेक्षम्'' अर्थात् जो विना सहायताके हो उसको प्रत्यक्ष कहते हैं और जो दूसरेकी सहायतासे हो उसको परोक्ष कहते हैं।

१ केवल तथा अवधि मनःपर्ययमें विषयभेदादिकी अपेक्षा भेद है। किन्तु अवधि तथा मनःपर्ययमें जितना नियत विषय प्रतिभासित होता है वह सम्पूर्ण विशदरूपसे ही होता है।

कश्चिदाह "अक्षं नाम चक्षुरादिकमिन्द्रियं तत्प्रतीत्य यदुत्पद्यते तदेव प्रत्यक्षमुचितं नान्यत्" इति तदप्यसत्। आत्ममात्रसापेक्षाणामवधिमनःपर्ययकेवलानामिन्द्रियनिरपेक्षाणामपि प्रत्यक्षत्वाविरोधात्। स्पष्टत्वमेव हि प्रत्यक्षत्वप्रयोजकं नेन्द्रियजन्यत्वम्। अत एव हि मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानां ज्ञानत्वेन प्रतिपन्नानां मध्ये "आद्ये परोक्षम्" "प्रत्यक्षमन्यदि"त्याद्ययोर्मतिश्रुतयोः परोक्षत्वकथनमन्येषां त्ववधिमनःपर्ययकेवलानां प्रत्यक्षत्ववाचोयुक्तिः।

यहांपर कोई इस प्रकार शङ्का करता है कि "अक्ष नाम इन्द्रियका है उसकी सहायतासे जो ज्ञान उत्पन्न हो उसको प्रत्यक्ष कहते हैं, औरको नहीं"। परन्तु यह शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि इन्द्रियोंकी अपेक्षाको न रखकर केवल आत्मासे ही उत्पन्न होनेवाले, अवधि मनःपर्यय केवलज्ञानके भी प्रत्यक्ष होनेमें कोई विरोध नहीं है। इसका कारण यह कि स्पष्टता ही प्रत्यक्षताका कारण है, न कि इन्द्रियोंसे उत्पन्न होना। इसीलिये, मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल, इन पांच ज्ञानोंमेंसे आदिके दो मतिज्ञान और श्रुतज्ञानको "आद्ये परोक्षम्" इस सूत्रसे परोक्ष कहा है, और शेष अवधिमनःपर्ययकेवलज्ञानको "प्रत्यक्षमन्यत्" इस सूत्रसे प्रत्यक्ष कहा है।

कथं पुनरेतेषां प्रत्यक्षशब्दवाच्यत्वमिति चेत् रूढित इति ब्रूमः। अथवा अक्ष्णोति व्याप्नोति जानातीत्यक्ष आत्मा तन्मात्रापेक्षोत्पत्तिकं प्रत्यक्षमिति किमनुपपन्नम्? तर्हि इन्द्रियजन्यमप्रत्यक्षं प्राप्तमिति चेत् हन्त विस्मरणशीलत्वं वत्सस्य। अवोचामः खल्वौपचारिकं प्रत्यक्षत्वमक्षजज्ञानस्य ततस्तस्याप्रत्यक्षत्वं कामं प्राप्नोतु, का नो हानिः? एते-

नाक्षेभ्यः परावृत्तं परोक्षमित्यपि प्रतिविहितम् । अवैशद्यस्यैव परोक्षलक्षणत्वात् ।

(प्रश्न) इनको प्रत्यक्षशब्दसे क्यों कहते हैं? अर्थात् अवधि आदि ज्ञान जब अपनी उत्पत्तिमें अक्ष अर्थात् इन्द्रियोंकी अपेक्षा ही नहीं रखते तो इनको प्रत्यक्ष क्यों कहते हैं? (उत्तर) रूढिसे[1], अर्थात् इन ज्ञानोंमें प्रत्यक्ष शब्द अपने यौगिक अर्थकी अपेक्षा न करके रूढ है इसलिये इनको प्रत्यक्ष कहते हैं। अथवा अक्षशब्दका अर्थ आत्मा भी होता है, क्योंकि यह शब्द अक्ष् धातुसे बना है जिसका अर्थ होता है किसी पदार्थको व्याप्त करना अर्थात् जानना। इसलिये उस (अक्ष=आत्मा)की अपेक्षासे ही केवल जिसकी उत्पत्ति हो उसको प्रत्यक्ष कहते हैं; ऐसा अर्थ करनेसे क्या बिगड़ता है? कुछ नहीं। (प्रश्न)—यदि ऐसा है तो इन्द्रियजन्य ज्ञान अप्रत्यक्ष ठहरा? (उत्तर) बच्चा (प्रश्नकर्त्ता) बहुत जल्दी भूल जाता है यह बड़ा खेद है। हम यह बात पहले कह चुके हैं कि "इन्द्रियजन्य ज्ञान उपचारसे प्रत्यक्ष कहा जाता है" इसलिये वह अच्छीतरह अप्रत्यक्ष ठहरो, हमारी कुछ हानि नहीं है। इस पूर्वोक्त कथनसे यह कहना भी खण्डित होगया कि "जो ज्ञान इन्द्रियोंकी अपेक्षासे रहित है वह परोक्ष है" क्योंकि परोक्षका लक्षण विशदतारहित होना ही है।

स्यादेतत् 'अतीन्द्रियं प्रत्यक्षमस्तीत्यतिसाहसमसम्भावितत्वात् । यद्यसम्भावितमपि कल्प्येत गगनकुसुमादिकमपि कल्प्यं स्यात्' । न स्याद्गगनकुसुमादिरप्रसिद्धत्वात् अतीन्द्रियप्रत्यक्षस्य तु प्रमाणसिद्धत्वात् । तथाहि । केवलज्ञानं तावत्कि-

---

१ जो शब्द अपने प्रकृतिप्रत्ययसे होनेवाले अर्थकी अपेक्षा न रखकर किसी खास वस्तुका वाचक हो उसको रूढ कहते हैं। जैसे गोशब्द का अर्थ यद्यपि चलनेवाला होता है तथापि वह चलनेवाले मनुष्यादिकोंको न कहकर बैठे हुए बैल या गौको भी कहता है।

श्चिज्ज्ञानां कपिलसुगतादीनामसम्भवदप्यर्हतः सम्भवत्येव। सर्वज्ञो हि स भगवान्।

(शङ्का) अतीन्द्रिय ज्ञानको तुम प्रत्यक्ष कहते हो यह तुम्हारा बड़ा साहस है, क्योंकि वह तो असम्भव है। यदि असम्भवकी भी कल्पना होने लगे तो आकाशके फूलोंकी भी कल्पना होनी चाहिये।

(समाधान) आकाशके फूलोंकी कल्पना नहीं हो सकती, क्योंकि वे अप्रसिद्ध हैं किन्तु अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष प्रमाणसे सिद्ध है। किञ्चिज्ज्ञ (अल्पज्ञानी) कपिल सुगतादिकोंमें केवलज्ञान असम्भव रहनेपर भी अरहंतमें सम्भव है, क्योंकि वे अरहंत भगवान् सर्वज्ञ हैं।

ननु सर्वज्ञत्वमेवाप्रसिद्धं किमुच्यते सर्वज्ञोऽर्हन्निति क्वचिदप्यप्रसिद्धस्य विषयविशेषे व्यवस्थापयितुमशक्तेरिति चेन्न, सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः कस्यचित्प्रत्यक्षा अनुमेयत्वादग्न्यादिवदित्यनुमानात्सर्वज्ञत्वसिद्धेः।

(शङ्का) जब कोई सर्वज्ञ सिद्ध ही नहीं तब यह किसतरह कहते हो कि अरहंत सर्वज्ञ हैं? क्योंकि जो पदार्थ कहीं भी प्रसिद्ध न हो उसको किसी एक स्थलविशेषमें सिद्ध करना अशक्य है।

(समाधान) यह शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि सर्वज्ञत्वकी सिद्धि इस अनुमानसे होती है कि सूक्ष्म, अन्तरित, तथा दूरवर्ती पदार्थ किसीके प्रत्यक्ष हैं, क्योंकि हम उनको अनुमानसे जानते हैं; जो २ अनुमानसे जाने जाते हैं वे किसी न किसीके प्रत्यक्ष भी होते हैं, जैसे अग्नि।

तदुक्तं स्वामिभिर्महाभाष्यस्यादावाप्तमीमांसाप्रस्तावे—

"सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः प्रत्यक्षाः कस्यचिद्यथा।
अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञसंस्थितिः" ॥ १ ॥

सूक्ष्माः स्वभावविप्रकृष्टाः परमाण्वादयः, अन्तरिताः कालविप्रकृष्टा रामादयः, दूरार्था देशविप्रकृष्टा मेर्वादयः एते स्वभावकालदेशविप्रकृष्टाः पदार्था धर्मित्वेन विवक्षितास्तेषां कस्यचित्प्रत्यक्षत्वं साध्यम्। इह प्रत्यक्षत्वं प्रत्यक्षज्ञानविषयत्वम्। विषयिधर्मस्य विषयेप्युपचारोपपत्तेः। अनुमेयत्वादिति हेतुः, अग्न्यादिर्दृष्टान्तः। अग्न्यादावनुमेयत्वं कस्यचित्प्रत्यक्षत्वेन सहोपलब्धं परमाण्वादावपि कस्यचित्प्रत्यक्षत्वं साधयत्येव।

इसीलिये स्वामी समन्तभद्राचार्यने प्रथम ही महाभाष्यकी आप्तमीमांसा नामक प्रस्तावनामें ऐसा कहा है कि:—"सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थ किसी न किसीके प्रत्यक्ष हैं, क्योंकि वे अनुमेय हैं, जैसे अग्नि आदि। इस अनुमानसे सर्वज्ञ सिद्ध होता है।" सूक्ष्म अर्थात् जो स्वभावसे ही विप्रकृष्ट हैं जैसे परमाणुआदि। अन्तरित अर्थात् जो कालसे विप्रकृष्ट हैं जैसे राम, रावण आदि। दूरार्थ, अर्थात् जो क्षेत्रसे विप्रकृष्ट हैं जैसे मेरु आदि। स्वभाव, काल, देशकी अपेक्षा व्यवधानसहित धर्मि[1]रूप पदार्थोंका किसी न किसीको प्रत्यक्ष होना साध्य[2] है। यहांपर प्रत्यक्षशब्दसे 'प्रत्यक्षज्ञानका विषय' ऐसा अर्थ समझना चाहिये, क्योंकि यहांपर विषयमें विषयीके धर्मका उपचार[3] किया है। अनुमेयत्व हेतु है और अग्न्यादिक दृष्टान्त हैं। अग्नि आदिक विषयमें किसी न किसीके प्रत्यक्षके साथ देखागया अनुमेयत्वहेतु परमाणु आदिकमें भी किसी न किसीके द्वारा प्रत्यक्ष

---

१ पक्षरूपसे जहांपर कुछ भी सिद्ध किया जाय। २ जो सिद्ध किया जाय उसको साध्य कहते हैं। ३ मुख्यके अभावमें प्रयोजन तथा निमित्तवश उपचारकी प्रवृत्ति होती है।

होनेको सिद्ध करता है अर्थात् पर्वतमें रहनेवाली जिस अग्निको कोई अनुमानसे जानता है उसी अग्निको पर्वतपर जाकर देखनेवाला कोई मनुष्य प्रत्यक्षसे भी जानलेता है। इस प्रकार प्रत्यक्षके साथ रहनेवाला अनुमेयत्व हेतु परमाणु आदिक स्वभावविप्रकृष्टादि पदार्थोंको भी किसी न किसीके प्रत्यक्ष-गोचर होना सिद्ध करता है। अर्थात् जैसे अनुमेय अग्नि किसी न किसीके प्रत्यक्ष है उसी प्रकार परमाणु आदिक भी अनुमेय होनेसे किसी न किसीके प्रत्यक्ष हैं। अनुमानके विषयभूत पर्वतीय अग्नि आदिक यावत् अनुमेय पदार्थोंमें रहनेवाला जो अनुमेयत्व धर्म वह जिस जिस वस्तुमें रहता है उस उसमें प्रत्यक्षत्व धर्म भी रहता है, क्योंकि जिस प्रकार जिस परोक्ष-भूत अग्निको हम धूम देखकर अनुमानप्रमाणद्वारा निश्चित करते हैं वही अग्नि उस मनुष्यको प्रत्यक्ष भी जानी जाती है कि जो पर्वतपर चढ़ कर देखना चाहता हो। इसी प्रकार हम सरीखे अल्पज्ञ मनुष्योंको जिन जिन वस्तुओंका प्रत्यक्ष ज्ञान हो सकता है वे वे वस्तुएं हमको प्रत्यक्ष न होकर केवल अनुमानके गोचर होनेपर भी हम सरीखे किसी न किसी उस मनुष्यको प्रत्यक्ष भी हो जाती हैं कि जो उनको प्रत्यक्ष करनेकी पूर्ण सामग्री मिलाता है। इस लिये हम अनेक बार अनुमेयत्व धर्मको प्रत्यक्षत्व धर्मका अविनाभावी देखते हुए यह निश्चय करते हैं कि जो जो पदार्थ अनुमेयत्वधर्मविशिष्ट हों अर्थात् जो जो अनुमानद्वारा जाने जासकते हों वे वे हमारे प्रत्यक्षज्ञानगोचर न होनेपर भी किसी न किसीके प्रत्यक्ष अवश्य होने चाहिये। इसी लिये स्वभावसे सूक्ष्म परमाणु आदि, देशदूर मेरु पर्वतादि, कालसे अन्तरित रावणादि तथा भविष्यत्कालवर्ती पदार्थ, ये सभी जब अनुमेय हैं अर्थात् अनुमानद्वारा जाने जा सकते हैं तो इन सबका प्रत्यक्ष भी किसी न किसीको अवश्य हो सकता है। जो हम सरीखे अल्पज्ञोंके अगोचर परमाणु आदिका प्रत्यक्षज्ञाता हो वही सर्वज्ञ होना चाहिये।

नचाण्वादावनुमेयत्वमप्रसिद्धं, सर्वेषामप्यनुमेयमात्रे विवादाभावात् । अस्त्वेवं सूक्ष्मादीनां प्रत्यक्षत्वसिद्धिद्वारेण कस्यचिदशेषविषयं प्रत्यक्षज्ञानम् । तत्पुनरतीन्द्रियमिति कथम्? इत्थम् । यदि तज्ज्ञानमैन्द्रियिकं स्यादशेषविषयं न स्यात्, इन्द्रियाणां स्वयोग्यविषय एव ज्ञानजनकत्वशक्तेः सूक्ष्मादीनां च तदयोग्यत्वादिति । तस्मात्सिद्धं तदशेषविषयं ज्ञानमतीन्द्रियमेवेति । अस्मिंश्चार्थे सर्वेषां सर्वज्ञवादिनां न विवादः । यद्वाह्या अप्याहुः "अदृष्टादयः कस्यचित्प्रत्यक्षाः प्रमेयत्वात्" इति ।

परमाणु आदिमें अनुमेयत्व हेतु असिद्ध नहीं है । अर्थात् सूक्ष्मादिक पदार्थ अनुमानसे सिद्ध नहीं है यह बात नहीं है, क्योंकि इनके अनुमेय माननेमें किसीका भी विवाद नहीं है। (प्रश्न) सूक्ष्मादिक पदार्थोंकी प्रत्यक्षसिद्धिसे यद्यपि यह बात सिद्ध होगई कि किसी न किसीको सम्पूर्णपदार्थविषयक प्रत्यक्ष ज्ञान है परन्तु वह ज्ञान अतीन्द्रिय है अर्थात् इन्द्रियोंकी अपेक्षा न रखकर ही उत्पन्न होता है । यह कैसे? (उत्तर) यह इस तरह कि यदि वह ज्ञान इन्द्रियजन्य होता तो सर्वविषयक नहीं होता, क्योंकि इन्द्रियां अपने योग्य विषयमें ही ज्ञानको उत्पन्न कर सकती हैं । सूक्ष्मादिक पदार्थ इन्द्रियोंके योग्य विषय नहीं हैं । इससे यह सिद्ध हुआ कि सर्वविषयक ज्ञान अतीन्द्रिय ही होता है । इस विषयमें किसी भी सर्वज्ञवादीका विवाद नहीं है; अत एव दूसरे भी इस विषयमें कहते हैं कि "धर्म अधर्म आदिक किसी न किसीके प्रत्यक्ष हैं, क्योंकि वे प्रमेय हैं अर्थात् अस्मदादिक उनको अनुमानसे जानते हैं ।"

नन्वस्त्वेवमशेषविषयसाक्षात्कारित्वलक्षणमतीन्द्रियप्रत्यक्षज्ञानं, तच्चार्हत इति कथम्? कस्यचिदिति सर्वनाम्नः सामा-

न्यज्ञापकादिति चेत्, सत्यं, प्रकृतानुमानात्सामान्यतः सर्वज्ञत्वसिद्धिः। अर्हत एतदिति पुनरनुमानान्तरात्। तथाहि। अर्हन् सर्वज्ञो भवितुमर्हति निर्दोषत्वात्। यस्तु न सर्वज्ञो नासौ निर्दोषो, यथा रथ्यापुरुष इति केवलव्यतिरेकिलिङ्गकमनुमानम्।

(शङ्का) सम्पूर्ण पदार्थोंको साक्षात् करनेवाला अतीन्द्रियप्रत्यक्ष तो सिद्ध हुआ, परन्तु वह अरहंतमें ही है यह कैसे? क्योंकि "किसीको प्रत्यक्ष है" यहांपर "किसीको" यह सर्वनाम सामान्यका बोध कराता है अर्थात् किसीको इस सर्वनामसे हम अरहंतको ही कैसे समझें कि वे ही सर्वज्ञ हैं। (समाधान) ठीक है, प्रकृत अनुमानसे सर्वज्ञकी सामान्यरूपसे ही सिद्धि होती है। परन्तु अरहंत ही सर्वज्ञ हैं यह दूसरे अनुमानसे सिद्ध होता है। वह अनुमान यह है कि अरहंत सर्वज्ञ हैं, क्योंकि वे निर्दोष हैं। जो सर्वज्ञ नहीं है वह निर्दोष नहीं होसकता, जैसे गलीमें घूमनेवाला साधारण मनुष्य। इस अनुमानमें सर्वज्ञत्वको सिद्ध करनेवाला निर्दोषत्व हेतु केवलव्यतिरेकी है।

आवरणरागादयो दोषास्तेभ्यो निष्क्रान्तत्वं हि निर्दोषत्वम्। तत्खलु सर्वज्ञमन्तरेण नोपपद्यते किञ्चिज्ज्ञस्यावरणादिदोषरहितत्वविरोधात्। ततो निर्दोषत्वमर्हति विद्यमानं सार्वज्ञं साधयत्येव। निर्दोषत्वं पुनरर्हत्परमेष्ठिनि युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्त्वात्सिध्यति। युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्त्वं च तदभिमतस्य मुक्तिसंसारतत्कारणत्वस्यानेकधर्मात्मकचेतनाचेतनात्मकतत्त्वस्य प्रमाणाबाधितत्वात्सुव्यवस्थितमेव।

ज्ञानावरणादि कर्म तथा रागद्वेषादिरूप दोषोंसे जो रहित है उसको निर्दोष कहते हैं। यह निर्दोषता विना सर्वज्ञताके नहीं

होसकती। क्योंकि जो अल्पज्ञानी है उसके आवरणादि दोषोंका अभाव नहीं होपाता। इसलिये अरहंतमें विद्यमान यह निर्दोषता उनकी (अरहंतकी) सर्वज्ञताको सिद्ध करती है। अर्हत्परमेष्ठीके वचन युक्ति तथा शास्त्रसे अविरोधी हैं इसलिये उनमें (अरहंतमें) निर्दोषताकी सिद्धि होती है। उनके माने हुए मुक्ति तथा संसार और उनके कारण अनेकधर्मात्मक चेतन तथा अचेतनस्वरूप तत्त्व किसी भी प्रत्यक्ष अथवा अनुमानादि प्रमाणसे बाधित नहीं हैं इसलिये उनके वचनमें युक्ति और आगमसे अविरोध अच्छी तरह सिद्ध होता है।

एवमपि सर्वज्ञत्वमर्हत एवेति कथं कपिलादीनामपि सम्भाव्यमानत्वादिति चेदुच्यते—कपिलादयो न सर्वज्ञाः सदोषत्वात्, सदोषत्वं तु तेषां न्यायागमविरुद्धभाषित्वात्। तच्च तदभिमतमुक्त्यादितत्त्वस्य सर्वथैकान्तस्य च प्रमाणबाधितत्वात्। तदुक्तं स्वामिभिरेव—

"स त्वमेवासि निर्दोषो युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्।
अविरोधो यदिष्टं ते प्रसिद्धेन न बाध्यते॥ १॥
त्वन्मतामृतबाह्यानां सर्वथैकान्तवादिनाम्।
आप्ताभिमानदग्धानां स्वेष्टं दृष्टेन बाध्यते॥ २॥

इति कारिकाद्वयेनैतयोरेव परात्माभिमततत्त्वबाधाबाधयोः समर्थनं प्रस्तुत्य भावैकान्ते इत्युपक्रम्य स्यात्कारः सत्यलाञ्छन इत्यन्त आप्तमीमांसासन्दर्भे इति कृतं विस्तरेण। तदेवमतीन्द्रियं केवलज्ञानमर्हत एवेति सिद्धम्। तद्वचनप्रामाण्याच्चावधिमनःपर्यययोरतीन्द्रिययोः सिद्धिरित्यतीन्द्रियप्रत्यक्षमनवद्यम्। ततः स्थितं सांव्यवहारिकं पारमार्थिकं चेति द्विविधं प्रत्यक्षमिति।

(शङ्का) इस पूर्वोक्त कथनसे भी अरहंत ही सर्वज्ञ है यह कैसे सिद्ध हो? क्योंकि, कपिलादिकोंमें भी इसकी सम्भावना होसकती है। अर्थात् निर्दोषत्व हेतुसे सर्वज्ञताकी सिद्धि तो की, परन्तु उससे यह कैसे सिद्ध हुआ कि अरहंत ही सर्वज्ञ हैं? क्योंकि, दूसरे कपिलादिक भी निर्दोष होनेसे सर्वज्ञ हो सकते हैं।

(समाधान) अरहंतके सिवा दूसरे कपिलादिक सर्वज्ञ नहीं हो सकते, क्योंकि, वे सदोष हैं। इस अनुमानसे उनमें सर्वज्ञताका अभाव सिद्ध होता है। उनका उपदेश, न्याय और आगमसे विरुद्ध सिद्ध होनेके कारण सदोष, और उनके माने हुए सर्वथा एकान्तस्वरूप मुक्त्यादि पदार्थ, प्रत्यक्षादि प्रमाणोंद्वारा बाधित सिद्ध होते हैं। इसी लिये स्वामी समन्तभद्राचार्यने कहा है कि "हे भगवन् तुम्ही निर्दोष हो, क्योंकि, तुम्हारे ही वचन युक्ति और शास्त्रसे अविरुद्ध हैं। जो तुमको इष्ट है वह प्रत्यक्षादिसे बाधित नहीं होता अतः तुम्हारे वचनोंका अविरोध सिद्ध है ॥ १ ॥ जो तुम्हारे मतरूपी अमृतसे दूर हैं, अत एव जो वस्तुके स्वरूपको सर्वथा एकान्तसे माननेवाले हैं किन्तु अपनेको आप्त माननेके अभिमानसे जाज्वल्यमान हो रहे हैं उनका इष्ट प्रत्यक्षसे बाधित है ॥ २ ॥" इन दो कारिकाओंसे दूसरेके मानेहुए तत्त्वोंमें बाधा और अपने मानेहुए तत्त्वोंमें अबाधाका समर्थन करके "भावैकान्ते" इस कारिकासे लेकर "स्यात्कारः सत्यलाञ्छनः" इस कारिका पर्यन्त विस्तारपूर्वक इस विषयका विवेचन आप्तमीमांसामें किया है। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि अतीन्द्रिय केवलज्ञान अरहंतमें ही है। उनके वचन प्रमाण होनेसे अतीन्द्रिय अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञानका भी समर्थन होता है। इसलिये अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष निर्दोष सिद्ध है। इसीसे यह भी सिद्ध हो चुका कि प्रत्यक्षके सांव्यवहारिक और पारमार्थिक ये दो भेद हैं।

इति द्वितीयः प्रकाशः।

अथ परोक्षप्रमाणनिरूपणं प्रक्रम्यते । अविशदप्रतिभासं परोक्षम् । अत्र परोक्षं लक्ष्यम्, अविशदप्रतिभासत्वं लक्षणम् । यस्य ज्ञानस्य प्रतिभासो विशदो न भवति तत्परोक्षप्रमाणमित्यर्थः । वैशद्यमुक्तलक्षणम् । ततोन्यदवैशद्यमस्पष्टत्वम् । तदप्यनुभवसिद्धमेव ।

अब परोक्ष प्रमाणका निरूपण करते हैं । अविशद प्रतिभासको परोक्ष कहते हैं । यहांपर परोक्ष लक्ष्यवाचक है और अविशदप्रतिभासत्व लक्षणवाचक है । अर्थात् जिसका प्रतिभास विशद नहीं हो उसको परोक्षप्रमाण कहते हैं । विशदताका लक्षण पहले कह चुके हैं । उससे जो भिन्न है उसको अविशदता अथवा अस्पष्टता कहते हैं । यह भी विशदताकी तरह अनुभवसे सिद्ध है ।

सामान्यमात्रविषयत्वं परोक्षप्रमाणलक्षणमिति केचित् तन्न प्रत्यक्षस्येव परोक्षस्यापि सामान्यविशेषात्मकवस्तुविषयत्वेन तस्य लक्षणस्यासम्भवित्वात् । तथा हि । घटादिविषयेषु प्रवर्तमानं प्रत्यक्षप्रमाणं तद्गतं सामान्याकारं घटत्वादिकं व्यावृत्ताकारं च व्यक्तिरूपं युगपदेव प्रकाशयदुपलब्धं तथा परोक्षमपि । इति न सामान्यमात्रविषयत्वं परोक्षलक्षणम् । अपि त्ववैशद्यमेव ।

कोई परोक्षप्रमाणका लक्षण इस प्रकार करते हैं कि "जो सामान्यमात्रको विषय करता है वह परोक्ष कहलाता है ।" परन्तु यह कहना ठीक नहीं है । क्योंकि, परोक्षप्रमाण भी प्रत्यक्षकी तरह सामान्य और विशेष इन दोनों स्वरूपवाले वस्तुको विषय करता है; इस लिये परोक्षका यह लक्षण असम्भवी है । अर्थात् जिस प्रकार घटादि विषयोंमें प्रवृत्त होनेवाला प्रत्यक्षप्रमाण,

विषयके घटत्वादिक सामान्य आकारको और व्यक्तिरूप विशेष आकारको एक साथ ही प्रकाशित करता है उसी प्रकार परोक्षप्रमाण भी सामान्यविशेषात्मक वस्तुको ही प्रकाशित करता है, केवल सामान्यको नहीं। इसलिये परोक्षप्रमाणका लक्षण 'सामान्यमात्रको विषय करना' नहीं किन्तु 'अवैशद्य' है।

सामान्यविशेषयोरेकतरविषयत्वे तु प्रमाणत्वस्यैवानुपपत्तिः, सर्वप्रमाणानां सामान्यविशेषात्मकवस्तुविषयत्वाभ्यनुज्ञानात्। तदुक्तं "सामान्यविशेषात्मा तदर्थो विषयः" इति। तस्मात्सुष्ठूक्तम् 'अविशदावभासनं परोक्षम्' इति।

प्रमाणका विषय यदि सामान्य और विशेष इन दोनोंमेंसे एक ही माना जायगा तो प्रमाणत्व ही नहीं बन सकेगा। क्योंकि, ऐसा मानागया है कि जितने प्रमाण हैं उतने सभी सामान्यविशेषात्मक वस्तुको[1] विषय करते हैं। इसीलिये ऐसा कहा है कि "प्रमाणका विषय सामान्यविशेषात्मक पदार्थ है।" अत एव परोक्षका यही लक्षण ठीक कहा गया है कि "जिसका प्रतिभास विशद न हो वह परोक्ष है।"

तत्पञ्चविधं स्मृतिः प्रत्यभिज्ञानं तर्कोऽनुमानमागमश्चेति। पञ्चविधस्याप्यस्य परोक्षस्य प्रत्ययान्तरसापेक्षत्वेनैवोत्पत्तिः। तद्यथा, स्मरणस्य प्राक्तनानुभवापेक्षा, प्रत्यभिज्ञानस्य स्मरणानुभवापेक्षा, तर्कस्यानुभवस्मरणप्रत्यभिज्ञानापेक्षा, अनुमानस्य

---

१ क्योंकि वस्तु सामान्यविशेषात्मक है। उसका एकरूपसे अर्थात् सामान्यरूपसे अथवा विशेषरूपसे ग्रहणकरनेवाला ज्ञान मिथ्याज्ञान ही होगा, सम्यग्ज्ञान (प्रमाण) नहीं। अथवा सामान्यको छोड़कर विशेषस्वरूप वस्तु और विशेषको छोड़कर सामान्यरूप वस्तु हो नहीं सकती अतः खरविषाणवत् अवस्तुको विषय करनेवाला ज्ञान अप्रमाण ही है।

च लिङ्गदर्शनाद्यपेक्षा, आगमस्य शब्दश्रवणसङ्केतग्रहणाद्यपेक्षा। प्रत्यक्षं तु न तथा स्वातन्त्र्येणैवोत्पत्तेः। स्मरणादीनां प्रत्ययान्तरापेक्षा तु तत्र तत्र निवेदयिष्यते।

उसके पांच भेद हैं—स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम। इन पांचों ही प्रकारके परोक्षप्रमाणोंकी उत्पत्ति दूसरे कारणोंकी अपेक्षा लेकर होती है। स्मरणमें पहले अनुभवकी अपेक्षा रहती है। प्रत्यभिज्ञानमें स्मरण और अनुभवकी अपेक्षा रहती है। तर्कको अनुभव, स्मरण और प्रत्यभिज्ञानकी अपेक्षा है। अनुमानको लिङ्गदर्शनादिककी अपेक्षा है। आगमको शब्दके सुनने और सङ्केतादिके ग्रहण करनेकी अपेक्षा है। परन्तु प्रत्यक्ष अपनी उत्पत्तिमें किसी दूसरे कारणकी अपेक्षा नहीं रखता, वह स्वतन्त्र ही उत्पन्न होता है। स्मरणादिकी उत्पत्तिमें जिन जिन कारणोंकी अपेक्षा है उनका उल्लेख उन उनका (स्मरणादिका) वर्णन करते समय किया जायगा।

तत्र का नाम स्मृतिः। तदित्याकारा प्रागनुभूतवस्तुविषया स्मृतिः। यथा स देवदत्त इति। अत्र हि प्रागनुभूत एव देवदत्तस्तत्तया प्रतीयते, तस्मादेषा प्रतीतिस्तत्तोल्लेखिन्यनुभूतविषया च, अननुभूते विषये तदनुत्पत्तेः। तन्मूलं चानुभवो धारणारूप एव। अवग्रहाद्यनुभूतेपि धारणाया अभावे स्मृतिजननायोगात्। धारणा हि तथा आत्मानं संस्करोति यथासावात्मा कालान्तरेपि तस्मिन् विषये ज्ञानमुत्पादयति। तदेतद्धारणाविषये समुत्पन्नं तत्तोल्लेखिज्ञानं स्मृतिरिति सिद्धम्।

स्मृति किसको कहते हैं? पहले ग्रहण किये हुए पदार्थ को विषय करनेवाले "वह" इस आकारके ज्ञानको स्मृति कहते हैं। जैसे कि "वह देवदत्त।" यहांपर जिस देवदत्तका पहले ज्ञान हुआ था उसीका "वह" शब्दद्वारा ग्रहण किया

जाता है। इस लिये यह प्रतीति (स्मृति) "वह" ऐसी सूचना करनेवाली और पूर्वानुभूत पदार्थको विषय करनेवाली होती है। जिस पदार्थका पहले कभी अनुभव नहीं किया उस पदार्थकी स्मृति नहीं हो सकती। इस लिये स्मृतिका मूल कारण धारणारूप अनुभव ही है। अवग्रहादिक होनेपर भी जबतक धारणा न हो तबतक स्मृति नहीं हो सकती। धारणासे आत्मामें इस प्रकारका संस्कार उत्पन्न होता है कि जिससे उस आत्माको कालान्तरमें भी उस विषयका स्मरण होजाता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि धारणाके विषयमें उत्पन्न होनेवाले "वह" इत्याकारक ज्ञानको स्मृति कहते हैं।

नन्वेवं धारणागृहीत एव स्मरणस्योत्पत्तौ गृहीतग्राहित्वादप्रामाण्यं प्रसज्यत इति चेन्न, विषयविशेषसद्भावादीहादिवत्। यथा ह्यवग्रहादिगृहीतविषयाणामीहादीनां विषयविशेषसद्भावात्स्वविषयसमारोपव्यवच्छेदकत्वेन प्रामाण्यं तथा स्मरणस्यापि धारणागृहीतविषयप्रवृत्तावपि प्रामाण्यमेव। धारणाया हीदन्तावच्छिन्नो विषयः, स्मरणस्य तु तत्तावच्छिन्नः। तथा च स्मरणं स्वविषयास्मरणादिसमारोपव्यवच्छेदकत्वात्प्रमाणमेव। तदुक्तं प्रमेयकमलमार्तण्डे "विस्मरणसंशयविपर्यासलक्षणः समारोपोस्ति तन्निराकरणाच्चास्याः स्मृतेः प्रामाण्यम्" इति। यदि चानुभूते प्रवृत्तमित्येतावता स्मरणमप्रमाणं स्यात्तर्हि अनुमितेऽग्नौ पश्चात्प्रवृत्तं प्रत्यक्षमप्यप्रमाणं स्यात्।

इसपर यह शङ्का करना कि "धारणाके विषयमें ही स्मरणकी उत्पत्ति होती है इसलिये यह स्मृति गृहीतग्राहिणी होनेसे अप्रमाण है" ठीक नहीं है। क्योंकि, ईहादिककी तरह इनके विषयमें विशेषता है। अर्थात् जिस प्रकार ईहादि ज्ञानोंकी प्रवृत्ति अवग्रहादिके द्वारा ग्रहणकिये हुए विषयमें ही होनेपर भी उनके

विषयमें कुछ न कुछ विशेषता रहती है और उस विषयमें उत्पन्न होनेवाले समारोपको वे दूर करते हैं इसलिये ईहादि ज्ञान प्रमाण भी हैं; उसी तरह स्मृति भी धारणाद्वारा ग्रहणकिये हुए विषयमें प्रवृत्त होनेपर भी प्रमाण है। क्योंकि धारणाका विषय "यह" ऐसा है और स्मरणका विषय "वह" ऐसा है। इसलिये स्मरण अपने विषयमें होनेवाले अस्मरणादिक समारोपोंका व्यवच्छेदक होनेसे प्रमाण ही है। ऐसा ही प्रमेयकमलमार्तण्डमें कहा है कि "विस्मरण संशय विपर्यासस्वरूप समारोपका निराकरण करनेसे स्मृति प्रमाण है।" स्मरण अनुभूत पदार्थमें प्रवृत्त होता है एतावता यदि वह अप्रमाण हो जाय तो अनुमानसे जाने हुए अग्निमें पीछे प्रवृत्त होनेवाला प्रत्यक्ष प्रमाण भी अप्रमाण ठहरेगा।

अविसंवादित्वाच्च प्रमाणं स्मृतिः प्रत्यक्षादिवत् । न हि स्मृत्वा निक्षेपादिषु प्रवर्तमानस्य विषयविसंवादोस्ति। यत्र त्वस्ति विसंवादस्तत्र स्मरणस्याभासत्वं प्रत्यक्षाभासवत्। तदेवं स्मरणाख्यं पृथक् प्रमाणमस्तीति सिद्धम्।

प्रत्यक्षादिककी तरह अविसंवादी होनेसे भी स्मृति प्रमाण है। क्योंकि, किसी पदार्थका स्मरण करके उसके रखने उठाने आदिमें प्रवृत्त होनेवाले मनुष्यको स्मृतिके विषयमें विसंवाद नहीं होता। यदि कहींपर विसंवाद होता भी है तो वह स्मरण प्रमाण नहीं समझना चाहिये किन्तु वह प्रत्यक्षाभासकी तरह स्मरणाभास है। इस प्रकार स्मरण नामक पृथक् प्रमाणका होना सिद्ध हुआ।

अनुभवस्मृतिहेतुकं सङ्कलनात्मकं ज्ञानं प्रत्यभिज्ञानम्। इदन्तोल्लेखि ज्ञानमनुभवः । तत्तोल्लेखि ज्ञानं स्मरणम्। तदुभयसमुत्थं पूर्वोत्तरैक्यसादृश्यवैलक्षण्यादिविषयं यत्सङ्कलनरूपं ज्ञानं जायते तत्प्रत्यभिज्ञानमिति ज्ञातव्यम्। यथा स

एवायं जिनदत्तो, गोसदृशो गवयो, गोविलक्षणो महिष इत्यादि ।

अनुभव तथा स्मृतिके निमित्तसे होनेवाले, दोनोंके जोड़रूप ज्ञानको प्रत्यभिज्ञान कहते हैं । अर्थात् "यह" इस प्रकारके ज्ञानको अनुभव कहते हैं और "वह" इस प्रकारके ज्ञानको स्मरण कहते हैं । इन दोनोंके मेलसे उत्पन्न होनेवाला तथा पूर्व और उत्तर दोनों ही अवस्थामें रहनेवाली एकता या सदृशता अथवा विलक्षणताको विषयकरनेवाला जो जोड़रूप ज्ञान होता है वह प्रत्यभिज्ञान है । जैसे कि यह वही जिनदत्त है अथवा गौके सदृश गवय होता है । यद्वा भैंसा बैलसे विलक्षण होता है, इत्यादि ।

अत्र हि पूर्वस्मिन्नुदाहरणे जिनदत्तस्य पूर्वोत्तरदशाद्वयव्यापकमेकत्वं प्रत्यभिज्ञानस्य विषयः, तदिदमेकत्वप्रत्यभिज्ञानम् । द्वितीये तु पूर्वानुभूतगोप्रतियोगिकं गवयनिष्ठं सादृश्यम् । तदिदं सादृश्यप्रत्यभिज्ञानम् । तृतीये तु पुनः प्रागनुभूतगोप्रतियोगिकं महिषनिष्ठं वैसादृश्यम् । तदिदं वैसादृश्यप्रत्यभिज्ञानम् । एवमन्येऽपि प्रत्यभिज्ञानभेदा यथाप्रतीति स्वयमुत्प्रेक्ष्याः । अत्र सर्वत्रापि अनुभवस्मृतिसापेक्षत्वात्तद्धेतुकत्वम् ।

यहांपर पहले उदाहरणमें पूर्वोत्तर दोनों अवस्थाओंमें रहनेवाली जिनदत्तकी एकता ही प्रत्यभिज्ञानका विषय है अर्थात् जिस जिनदत्तको पहले जाना था उसी जिनदत्तको पीछे भी जाना है अतः इस प्रकारके प्रत्यभिज्ञानको एकत्वप्रत्यभिज्ञान कहते हैं । दूसरे उदाहरणमें, जिस गौका पहले अनुभव हो चुका है उससे दूसरे एक गवयमें रहनेवाला गोसादृश्य प्रत्यभिज्ञानका विषय दिखाया गया है । अर्थात् पूर्वानुभूत गौके सदृश गवयको देखकर तथा उस गौका स्मरण करके दोनोंका जोड़रूप यह

ज्ञान उत्पन्न हुआ है; इसलिये इस तरहके ज्ञानको सादृश्यप्रत्यभिज्ञान कहते हैं। इसी प्रकार तीसरे उदाहरणमें पूर्वानुभूत बैलसे भिन्न भैंसामें रहनेवाली बैलसे विलक्षणता प्रत्यभिज्ञानका विषय है; इसको वैसादृश्य प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। इस प्रकार और भी अपनी प्रतीतिके अनुसार प्रत्यभिज्ञानके भेदोंकी कल्पना स्वयं कर लेना चाहिये। यहांपर प्रत्यभिज्ञानके सभी भेदोंमें अनुभव और स्मृतिकी अपेक्षा दीख पड़ती है इसलिये ये दोनों प्रत्यभिज्ञानके हेतु हैं।

केचिदाहुः "अनुभवस्मृतिव्यतिरिक्तं प्रत्यभिज्ञानं नास्ति" इति तदसत्, अनुभवस्य वर्तमानकालवर्तिविवर्तमात्रप्रकाशकत्वं, स्मृतेश्चातीतविवर्तद्योतकत्वमिति तावद्वस्तुगतिः। कथं नाम तयोरतीतवर्तमानकालसङ्कलितैक्यसादृश्यादिविषयावगाहित्वम्। तस्मादस्ति स्मृत्यनुभवातिरिक्तं तदनन्तरभावि सङ्कलनज्ञानम्। तदेव प्रत्यभिज्ञानम्।

यहांपर कोई शङ्का करते हैं कि "अनुभव और स्मृतिसे भिन्न प्रत्यभिज्ञान कोई चीज नहीं।" परन्तु यह शङ्का ठीक नहीं। क्योंकि, जब ऐसा नियम है कि अनुभव केवल वर्तमानकालवर्ती पर्यायको विषय करता है और स्मृति भूतकालके पर्यायका द्योतन करती है, तब अनुभव या स्मृतिज्ञान भूत और वर्तमान इन दोनों ही कालोंसे युक्त ऐसे एकत्व या सदृशत्व आदि विषयोंका किस तरह प्रकाश कर सकते हैं? इसलिये स्मृति तथा अनुभवसे भिन्न उनके अनन्तर होनेवाला, दोनोंका जोड़रूप ज्ञान एक जुदा ही मानना चाहिये; उसीको प्रत्यभिज्ञान कहते हैं।

अपरे त्वेकत्वप्रत्यभिज्ञानमभ्युपगम्यापि तस्य प्रत्यक्षेन्तर्भावं कल्पयन्ति। तद्यथा, यदिन्द्रियान्वयव्यतिरेकानुविधायि

तत्प्रत्यक्षमिति तावत्प्रसिद्धम्। इन्द्रियान्वयव्यतिरेकानुविधायि चेदं प्रत्यभिज्ञानं तस्मात् प्रत्यक्षमिति। तन्न, इन्द्रियाणां वर्तमानदशापरामर्शमात्रोपक्षीणत्वेन वर्तमानातीतदशाव्यापकैक्यावगाहित्वाघटनात्। न ह्यविषयप्रवृत्तिरिन्द्रियाणां युक्तिमती, चक्षुषा रसादेरपि प्रतीतिप्रसङ्गात्।

दूसरे कई वादी एकत्वप्रत्यभिज्ञानको मानकर भी उसका प्रत्यक्षमें अन्तर्भाव करते हैं। "क्योंकि, जिस ज्ञानका इन्द्रियोंके साथ अन्वय, व्यतिरेक होता है उसको प्रत्यक्ष कहते हैं। इस प्रत्यभिज्ञानका भी इन्द्रियोंके साथ अन्वय व्यतिरेक है अर्थात् जहां प्रत्यभिज्ञान उपजता है वहां इन्द्रियोंका सद्भाव अवश्य होता है और उनके अभावमें प्रत्यभिज्ञान नहीं होता। इसलिये वह प्रत्यक्ष ही है।" परन्तु उनका यह मानना ठीक नहीं है। क्योंकि, इन्द्रियोंकी शक्ति केवल वर्तमानदशाके परामर्श करनेमें ही उपक्षीण हो जाती है इसलिये वे भूत और वर्तमान दोनों दशाओंमें रहनेवाली एकता आदिका प्रकाश नहीं कर सकतीं। इन्द्रियोंकी अविषयमें अर्थात् भूतमें भी प्रवृत्ति मानना युक्तियुक्त नहीं है। क्योंकि, ऐसा माननेसे चक्षुसे रसादिकी प्रतीति होना भी उचित मानना पड़ेगा।

ननु सत्यमेतदिन्द्रियाणां वर्तमानदशावगाहित्वमेवेति, तथापि तानि सहकारिसमवधानसामर्थ्याद्दशाद्वयव्यापिन्येकत्वेपि प्रतीतिं जनयन्तु, अञ्जनसंस्कृतं चक्षुरिव व्यवहितेऽर्थे। नहि चक्षुषो व्यवहितार्थप्रत्यायनसामर्थ्यमस्ति, अञ्जनसंस्कारवशात्तु तथात्वमुपलब्धम्। तद्वदेव स्मरणादिसहकृतानीन्द्रियाण्येव दशाद्वयव्यापकमेकत्वं प्रत्याययिष्यन्तीति किं प्रमाणान्तरकल्पनाप्रयासेनेति, तदप्यसत्।

(शङ्का) यह ठीक है कि इन्द्रियां वर्तमान दशाका ही प्रकाश करती हैं, तथापि सहकारी कारणोंके सामर्थ्यसे वे पूर्वोत्तर दोनों दशाओंमें रहनेवाले एकत्वादिककी प्रतीतिको भी उत्पन्न कर सकती हैं; जैसे कि सिद्ध अंजनादि लगानेपर चक्षुसे व्यवहित पदार्थकी भी प्रतीति होने लगती है। अर्थात् यद्यपि चक्षुका यह सामर्थ्य नहीं है कि जिसके बीचमें कोई व्यवधान पड़ा हो ऐसे पदार्थकी प्रतीति करा सके परन्तु अञ्जनके संस्कारसे वह ऐसा कराता हुआ देखनेमें आता है, उसी प्रकार इन्द्रियां भी स्मरणादिके साहचर्यसे दोनों दशाओंमें रहनेवाले एकत्वादिककी प्रतीति करा सकती हैं। इसलिये अनुभव और स्मृतिसे भिन्न एक दूसरे प्रमाणकी कल्पनाका प्रयास करनेसे क्या प्रयोजन है?

(समाधान) इस प्रकारकी शङ्का करना भी ठीक नहीं है। क्योंकिः—

सहकारिसहस्रसमवधानेऽप्यविषये प्रवृत्तेरयोगात्। चक्षुषो हि अञ्जनसंस्कारादिः सहकारी स्वविषये रूपादावेव प्रवर्तको न त्वविषये रसादौ। अविषयश्च पूर्वोत्तरावस्थाव्यापकमेकत्वमिन्द्रियाणाम्। तस्मात्तत्प्रत्यायनाय प्रमाणान्तरमन्वेषणीयमेव। सर्वत्रापि विषयविशेषद्वारेण प्रमाणभेदव्यवस्थापनात्।

हज़ार सहकारी कारण रहनेपर भी अविषयमें प्रवृत्ति नहीं हो सकती। चक्षुके सहकारी अञ्जनसंस्कारादिक, उसके (चक्षुके) विषयभूत रूपादिमें ही उसकी प्रवृत्ति करा सकते हैं, अविषयभूत रसादिकमें नहीं। पूर्वोत्तरदशामें रहनेवाला एकत्व, इन्द्रियोंका अविषय है। इसलिये उसका ज्ञान करानेके लिये दूसरा प्रमाण मानना ही चाहिये। क्योंकि, सब जगह विषयविशेषताके होनेसे ही प्रमाणोंमें भेदकल्पना अथवा अनेकताकी कल्पना की जाती है। अर्थात् विषयके भिन्न होनेसे ही उसका ग्राहक प्रमाण भी भिन्न माना जाता है।

किंचास्पष्टैवेयं तदेवेदमिति प्रतिपत्तिः, तस्मादपि न तस्याः प्रत्यक्षान्तर्भाव इति। अवश्यं चैतदेवं विज्ञेयं चक्षुरादेरैक्यप्रतीतिजननसामर्थ्यं नास्तीति। अन्यथा लिङ्गदर्शनव्याप्तिस्मरणादिसहकृतं चक्षुरादिकमेव वह्न्यादिलिङ्गिज्ञानं जनयेदिति नानुमानमपि पृथक् प्रमाणं स्यात्। स्वविषयमात्र एव चरितार्थत्वाच्चक्षुरादिकमिन्द्रियं न लिङ्गिनि प्रवर्तितुं प्रगल्भमिति चेत् प्रकृतेन किमपराद्धम्? ततः स्थितं प्रत्यभिज्ञानाख्यं पृथक्प्रमाणमस्तीति।

और, यह प्रत्यभिज्ञान सदा अस्पष्ट ही रहता है इसलिये भी इसका प्रत्यक्षमें अन्तर्भाव नहीं हो सकता। यह निश्चय समझिये कि एकता आदिके ज्ञान करानेका सामर्थ्य चक्षुरादिकमें नहीं है, नहीं तो, लिङ्गदर्शन और व्याप्तिके स्मरणआदि सहकारी कारणोंसे युक्त चक्षुरादिकसे ही अग्नि आदिक साध्यका ज्ञान हो जायगा इसलिये अनुमानको पृथक् प्रमाण माननेकी कोई आवश्यकता नहीं रहेगी। यदि ऐसा कहो कि "चक्षुरादिक इन्द्रियां केवल अपने विषयमें चरितार्थ हो चुकीं, अर्थात् लिङ्गादिकका ज्ञान करा चुकीं इसलिये वे साध्यमें प्रवृत्त नहीं हो सकतीं" तो प्रत्यभिज्ञानने क्या अपराध किया है? इससे यह सिद्ध होता है कि प्रत्यभिज्ञान प्रमाण प्रत्यक्षादिसे भिन्न ही है।

सादृश्यप्रत्यभिज्ञानमुपमानाख्यं पृथक् प्रमाणमिति केचित्कथयन्ति तदसत्, स्मृत्यनुभवपूर्वकसङ्कलनज्ञानत्वेन प्रत्यभिज्ञानत्वानतिवृत्तेः। अन्यथा गोविलक्षणो महिष इत्यादिविसदृशत्वप्रत्ययस्य इदमस्माद्दूरमित्यादेश्च प्रत्ययस्य सप्रतियोगिकस्य पृथक्प्रमाणत्वं स्यात्। ततो वैसादृश्यादिप्रत्ययवत्

साद्दश्यप्रत्ययस्यापि प्रत्यभिज्ञानलक्षणाक्रान्तत्वेन प्रत्यभिज्ञानत्वमेवेति प्रामाणिकपद्धतिः।

कोई कहते हैं कि "साद्दश्यप्रत्यभिज्ञानको हम उपमान नामक पृथक् प्रमाण मानते हैं।" परन्तु उनका भी यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि, स्मृति और अनुभवपूर्वक जो जो जोड़रूप ज्ञान होंगे सभी प्रत्यभिज्ञान होंगे। नहीं तो "महिष बैलसे विलक्षण है" इत्यादिक विसद्दश प्रत्ययको और "यह इससे दूर है" इत्यादिक सप्रतियोगिक प्रत्ययको भी पृथक् प्रमाण मानना चाहिये। इसलिये गौरव दोषके भयसे वैसाद्दश्यप्रत्ययकी तरह साद्दश्यप्रत्यय भी प्रत्यभिज्ञान है, उपमान नहीं। क्योंकि, उसमें प्रत्यभिज्ञानका लक्षण घटित होता है ऐसा मानना चाहिये।

अस्तु प्रत्यभिज्ञानं, कस्तर्हि तर्कः? व्याप्तिज्ञानं तर्कः। साध्यसाधनयोर्गम्यगमकभावप्रयोजको व्यभिचारगन्धासहिष्णुः सम्बन्धविशेषो व्याप्तिरविनाभाव इति च व्यपदिश्यते। तत्सामर्थ्यात्खल्वग्न्यादिं धूमादिरेव गमयति नतु घटादिस्तदभावात्। तस्याश्चाविनाभावापरनाम्न्या व्याप्तेः प्रमितौ यत्साधकतमं तदिदं तर्काख्यं पृथक् प्रमाणमित्यर्थः। तदुक्तं श्लोकवार्तिकभाष्ये "साध्यसाधनसम्बन्ध्यज्ञाननिवृत्तिरूपे हि फले साधकतमस्तर्क" इति। ऊह इति तर्कस्यैव व्यपदेशान्तरम्। स च तर्कस्तां व्याप्तिं सकलदेशकालोपसंहारेण विषयीकरोति।

अच्छा, प्रत्यभिज्ञानको जाने दीजिये। अब यह कहिये कि तर्क किसको कहते हैं? व्याप्तिके ज्ञानको तर्क कहते हैं। भावार्थ–जो सम्बन्ध, साध्य साधनके गम्यगमक भावका प्रयोजक हो—अर्थात् जिससे दो पदार्थोंमें ऐसा ज्ञान हो कि "यह इससे जाना जाता है" और "यह इसका ज्ञान करानेवाला है" जैसे कि धूमसे अग्नि जानी जाती है इस

लिये अग्नि धूमका साध्य अथवा गम्य है, और धूम, ज्ञान करानेवाला है इसलिये वह अग्निका साधक अथवा गमक है—एवं जो व्यभिचारका गन्ध भी न सहता हो, अर्थात् जिसमें अतिव्याप्ति आदि कोई दोष न हो, ऐसे सम्बन्ध विशेषको व्याप्ति अथवा अविनाभाव कहते हैं। यह उसीका सामर्थ्य है कि धूमादिक ही अग्न्यादिकका ज्ञान कराते हैं, घटादिक नहीं। क्योंकि, घटादिकके साथ उस अग्निका अविनाभाव निश्चित नहीं है। जिसका दूसरा नाम अविनाभाव है उस व्याप्तिका यथार्थ ज्ञान करानेमें जो साधकतम है वही तर्क नामका एक पृथक् प्रमाण है। ऐसा ही श्लोकवार्तिक भाष्यमें कहा है कि "साध्य और साधनसम्बन्धी अज्ञानकी निवृत्तिरूप फलमें जो साधकतम है वह तर्क है।" इस तर्कका ही दूसरा नाम ऊह है। वह तर्क सम्पूर्ण देश और कालका उपसंहार कराता हुआ उस व्याप्तिका ग्रहण करता है। अर्थात् सम्पूर्ण साध्य और साधनके सम्बन्धको सामान्यतया विषय करता है।

किमस्योदाहरणम्? उच्यते, यत्र यत्र धूमवत्त्वं तत्र तत्राग्निमत्त्वमिति। अत्र हि धूमे सति भूयोऽप्युपलम्भे 'सर्वत्र सर्वदा धूमोऽग्निं न व्यभिचरति' एवं सर्वोपसंहारेणाविनाभाविज्ञानं पश्चादुत्पन्नं तर्काख्यं प्रत्यक्षादेः पृथगेव। प्रत्यक्षस्य सन्निहितदेश एव धूमाग्निसम्बन्धप्रकाशनान्न व्याप्तिप्रकाशकत्वम्। सर्वोपसंहारवती हि व्याप्तिः।

(प्रश्न)-इसका उदाहरण क्या है? (समाधान)-जहां जहां धूम है वहां वहां अग्नि है। अर्थात्, किसी स्थानमें धूमके होनेपर अग्निका सद्भाव देखा, इसी प्रकार दूसरे तीसरे आदि और भी कई स्थानोंमें देखा और देखनेके पीछे निश्चय किया कि "किसी क्षेत्र और किसी कालमें भी धूम अग्निसे व्यभिचरित नहीं होता है।" इस प्रकार सब देशकालके उपसंहारपूर्वक, अर्थात् सामान्यरूपसे

होनेवाले, साध्यसाधनसम्बन्धी ज्ञानको तर्क कहते हैं। यह प्रत्यक्षादिकसे भिन्न है। क्योंकि, प्रत्यक्ष, निकटके स्थानमें ही धूम और अग्निके सम्बन्धका प्रकाश कर सकता है इसलिये व्याप्तिका प्रकाश नहीं कर सकता। क्योंकि, व्याप्ति, सम्पूर्ण देशकालवर्ती साध्य और साधनके उपसंहारको विषय करती है।

ननु यद्यपि प्रत्यक्षमात्रं व्याप्तिविषयीकरणे शक्तं न भवति तथापि विशिष्टं प्रत्यक्षं तत्र शक्तमेव। तथा हि। महानसादौ तावत्प्रथमं धूमाग्न्योर्दर्शनमेकं प्रत्यक्षम्। तदनन्तरं भूयो भूयः प्रत्यक्षाणि प्रवर्तन्ते। तानि च प्रत्यक्षाणि न सर्वाणि व्याप्तिविषयीकरणे समर्थानि, अपि तु पूर्वपूर्वानुभूतधूमाग्निस्मरणतत्सजातीयत्वानुसन्धानरूपप्रत्यभिज्ञानसहकृतः कोपि प्रत्यक्षविशेषो व्याप्तिं गृह्णाति। तथा च, स्मरणप्रत्यभिज्ञानसहकृते प्रत्यक्षविशेषे व्याप्तिविषयीकरणसमर्थे किं तर्काख्येन पृथक्प्रमाणेनेति केचित्, तेपि न्यायमार्गानभिज्ञाः।

(शङ्का) यद्यपि केवल प्रत्यक्ष व्याप्तिको विषय नहीं कर सकता, तथापि विशेष प्रत्यक्ष उसको विषय कर सकता है। अर्थात् भोजनशालामें धूम और अग्निके देखनेसे एक बार प्रत्यक्ष हुआ। इसी प्रकार और भी अनेक बार प्रत्यक्ष हुआ। परन्तु ये सभी प्रत्यक्ष व्याप्तिको विषय नहीं कर सकते, किंतु पूर्वमें जिस जिस धूम और अग्निका अनुभव हो चुका है उस उसके स्मरणसे और फिर उन अनेक धूम तथा अग्नियोंके समान इतर धूम अग्नियोंके अनुसन्धानरूप प्रत्यभिज्ञानकी सहायतासे एक साथ होनेवाला प्रत्यक्षविशेष व्याप्तिको विषय कर सकता है। इससे यह फलितार्थ सिद्ध हुआ कि, स्मरण और प्रत्यभिज्ञानके साथ होनेवाला प्रत्यक्षविशेष ही जब व्याप्तिको विषय कर सकता है तब तर्कनामक पृथक् प्रमाण

माननेकी क्या आवश्यकता है? (समाधान) इस प्रकार जो शङ्का करते हैं वे भी न्यायके मार्गसे अनभिज्ञ हैं। क्योंकि:—

"सहकारिसहस्रसमवधानेऽप्यविषये प्रवृत्तिर्न घटते" इत्युक्तत्वात्। तस्मात्प्रत्यक्षेण व्याप्तिग्रहणमसमञ्जसम्। इदं समञ्जसं—स्मरणं प्रत्यभिज्ञानं भूयोदर्शनरूपं प्रत्यक्षं च मिलित्वा तादृशमेकं ज्ञानं जनयन्ति यद्व्याप्तिग्रहणसमर्थमिति तर्कश्च स एव। अनुमानादिकं तु व्याप्तिग्रहणं प्रत्यसम्भाव्यमेव।

यह बात हम पहले कहचुके हैं कि "हज़ार सहकारी कारणोंके मिलनेपर भी अविषयमें प्रवृत्ति नहीं हो सकती" इस लिये प्रत्यक्षसे व्याप्तिका ग्रहण करना अयुक्त है। हां, यह ठीक है कि स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, तथा भूयोदर्शनरूप प्रत्यक्ष मिलकर इस प्रकारके एक ज्ञानको उत्पन्न करते हैं कि जो व्याप्तिको ग्रहण करसकता है; उसीको तर्क कहते हैं। अनुमानादिकोंसे व्याप्तिका ग्रहण होना तो असम्भव ही है।

बौद्धास्तु प्रत्यक्षपृष्ठभावी विकल्पो व्याप्तिं गृह्णातीति मन्यन्ते। त एवं प्रष्टव्याः, स हि विकल्पः किमप्रमाणमुत प्रमाणमिति। यद्यप्रमाणं कथं नाम तद्गृहीतायां व्याप्तौ समाश्वासः? अथ प्रमाणं किं प्रत्यक्षमथवानुमानम्? न तावत्प्रत्यक्षमस्पष्टप्रतिभासत्वात्, नाप्यनुमानं लिङ्गदर्शनाद्यनपेक्षत्वात्। ताभ्यामन्यदेव किञ्चित्प्रमाणमिति चेदागतस्तर्हि तर्कः। तदेवं तर्काख्यं प्रमाणं निर्णीतम्। इदानीमनुमानमनुवर्ण्यते।

"प्रत्यक्षके पीछे होनेवाला विकल्पज्ञान व्याप्तिको ग्रहण करता है।" ऐसा बौद्ध मानते हैं। परन्तु इसपर उनसे यह पूछना चाहिये कि वह विकल्प अप्रमाण है अथवा प्रमाण?

यदि अप्रमाण है तो उससे ग्रहण की हुई व्याप्तिमें किस प्रकार विश्वास हो सकता है? यदि प्रमाण है तो प्रत्यक्ष है अथवा अनुमान? प्रत्यक्ष तो हो नहीं सकता, क्योंकि, उसका प्रतिभास स्पष्ट नहीं है। अनुमान भी नहीं हो सकता, क्योंकि, उसमें लिङ्गदर्शनादिककी अपेक्षा नहीं है। अर्थात् जो अनुमान होता है वह लिङ्गदर्शनसे उत्पन्न होता है, इस विकल्पमें लिङ्गदर्शनादिक अपेक्षित नहीं हैं। इसीलिये यह अनुमान भी नहीं है। यदि वह विकल्प प्रत्यक्ष और अनुमानसे भिन्न तीसरा प्रमाण है तो यही फलितार्थ सिद्ध हुआ कि वह तर्क है। इस प्रकार तर्क प्रमाणका निर्णय किया।

आगे अनुमानका वर्णन करते हैंः—

साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानम्। इहानुमानमिति लक्ष्यनिर्देशः, साधनात्साध्यविज्ञानमिति लक्षणकथनम्। साधनाद्धूमादेर्लिङ्गात्साध्येऽग्न्यादौ लिङ्गिनि यद्विज्ञानं जायते तदनुमानम्। तस्यैवाग्न्याद्यव्युत्पत्तिविच्छित्तिकरणत्वात्। न पुनः साधनज्ञानमनुमानं, तस्य साधनाव्युत्पत्तिविच्छेदमात्रोपक्षीणत्वेन साध्याज्ञाननिवर्तकत्वायोगात्।

साधन[1]से उत्पन्न हुए साध्य[2]ज्ञानको अनुमान कहते हैं। यहांपर "अनुमान" यह लक्ष्यनिर्देश है और "साधनसे साध्यका ज्ञान होना" यह लक्षणकथन है। अर्थात् धूमादिरूप हेतुओंसे जो साध्यविषयक, अर्थात् अग्नि आदि लिङ्गियोंका ज्ञान होता है उसको अनुमान कहते हैं। क्योंकि यही ज्ञान अग्नि आदि विषयके अज्ञानको दूर करनेमें समर्थ कारण है, अर्थात्–उसीसे साध्य विषयका अज्ञान दूर होसकता है। साधनके ज्ञानको

---

१ जो साध्यके विना न पायाजाय उसको साधन कहते हैं। २ जिसको सिद्ध किया जाय उसको साध्य कहते हैं।

अनुमान नहीं कहते, क्योंकि वह केवल साधन अज्ञानको ही दूर कर सकता है, इसलिये वह साध्यविषयक ज्ञानको उत्पन्न नहीं कर सकता।

ततो यदुक्तं नैयायिकैः "लिङ्गपरामर्शोऽनुमानम्" इति अनुमानलक्षणं तदविनीतविलसितमिति निवेदितं भवति। वयं त्वनुमानप्रमाणस्वरूपलाभे व्याप्तिस्मरणसहकृतो लिङ्गपरामर्शः करणमिति मन्यामहे। स्मृत्यादिस्वरूपलाभे अनुभवादिवत्। तथा हि, धारणाख्योऽनुभवः स्मृतौ हेतुः। तादात्विकानुभवस्मृती प्रत्यभिज्ञाने, स्मृतिप्रत्यभिज्ञानानुभवाः साध्यसाधनविषयास्तर्के। तद्वल्लिङ्गज्ञानं व्याप्तिस्मरणादिसहकृतमनुमानोत्पत्तौ निबन्धनमित्येतत्सुसङ्गतमेव।

इसलिये नैयायिकोंने जो यह अनुमानका लक्षण किया है कि "लिङ्गके परामर्शात्मक ज्ञानको अनुमान कहते हैं" सो ठीक नहीं है। हम तो, ऐसा मानते हैं कि जैसे स्मृति आदिकी उत्पत्तिमें अनुभवादिक कारण हैं, उसी प्रकार अनुमानादिकी उत्पत्तिमें व्याप्तिस्मरणके साथ साथ उत्पन्न हुआ लिङ्गपरामर्श करण है। अर्थात् जैसे स्मृतिमें धारणानामक अनुभव कारण होता है, तथा प्रत्यभिज्ञानमें तत्कालीन अनुभव और स्मृति कारण पड़ती है और तर्कमें साध्य तथा साधनके विषयभूत स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, और अनुभव ये तीनों कारण हैं, उसी प्रकार यह कहना भी युक्तिसंगत ही है कि व्याप्तिस्मरणके साथ लिङ्गज्ञान अनुमानकी उत्पत्तिमें कारण है।

ननु भवतां मते साधनमेवानुमाने हेतुर्न तु साधनज्ञानं, साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानमिति वचनादिति चेन्न, साधनादित्यत्र निश्चयपथप्राप्ताद्धूमादेरिति विवक्षणात्। अनिश्चयपथप्राप्तस्य धूमादेः साधनत्वस्यैवाघटनात्। तथाचोक्तं श्लोकवा-

र्तिके "साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानं विदुर्बुधाः" इति। साधनाज्ज्ञायमानाद्धूमादेः, साध्येऽग्न्यादौ लिङ्गिनि यद्विज्ञानं तदनुमानम्। अज्ञायमानस्य तस्य साध्यज्ञानजनकत्वे हि सुप्तादीनामगृहीतधूमादीनामप्यग्न्यादिज्ञानोत्पत्तिप्रसङ्गः। तस्माज्ज्ञायमानलिङ्गकारणकस्य साध्यज्ञानस्यैव साध्याव्युत्पत्तिनिराकारकत्वेनानुमानत्वम्। नतु लिङ्गपरामर्शादेरिति बुधाः प्रामाणिका विदुरिति वार्तिकार्थः।

(शङ्का) आपके मतमें साधनको ही अनुमानमें हेतु माना है, साधनके ज्ञानको नहीं। क्योंकि पहले ऐसा कहा जा चुका है कि "साधनसे साध्यके ज्ञानको अनुमान कहते हैं"। (समाधान) यह शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि यहांपर साधनशब्दसे निश्चित हुए धूमादिक ही विवक्षित हैं अर्थात् जिस हेतुका निश्चय होचुका हो वह यहांपर साधन शब्दसे समझना चाहिये। क्योंकि जो हेतु निश्चयमार्गमें प्राप्त नहीं है वह साधन ही नहीं हो सकता। श्लोकवार्तिकमें ऐसा ही कहा है कि "साधनसे साध्यके ज्ञानको विद्वान् अनुमान कहते हैं"। इसका यही अर्थ है कि "साधनसे, अर्थात् जाने हुए धूमादिकसे साध्य—अग्नि आदिक लिङ्गीका जो ज्ञान उसको अनुमान कहते हैं। क्योंकि अज्ञायमान हेतुको साध्यज्ञानका उत्पादक माननेसे सोते हुए मनुष्यको तथा जिसको धूमादिक हेतुका ज्ञान नहीं है उसको अग्नि आदिका ज्ञान होना चाहिये, पर होता नहीं। इसलिये ज्ञायमान लिङ्गसे उत्पन्न हुए साध्यके ज्ञानको ही अनुमान कहना चाहिये, न कि हेतुके ज्ञान आदिको, क्योंकि, उसीसे साध्यविषयका अज्ञान दूर होता है। ऐसा विद्वानोंको मानना चाहिये। यह वार्तिकका अर्थ है।

किं तत्साधनं यद्धेतुकं साध्यज्ञानमनुमानमिति चेदुच्यते

निश्चितसाध्यान्यथानुपपत्तिकं साधनम् । यस्य साध्याभावासम्भवनियमरूपा व्याप्त्यविनाभावाद्यपरपर्याया साध्यान्यथानुपपत्तिस्तर्काख्येन प्रमाणेन निर्णीता तत्साधनमित्यर्थः । तदुक्तं कुमारनन्दिभट्टारकैः "अन्यथानुपपत्त्येकलक्षणं लिङ्गमभ्यत" इति ।

जिससे साध्यज्ञानरूप अनुमान होता है उस साधनका लक्षण क्या है? जिसकी साध्यके विना अनुपपत्ति निश्चित है उसको साधन कहते हैं। अर्थात् साध्यके अभावमें (विना) जिसका रहना असम्भव हो ऐसी नियमरूप साध्यान्यथानुपपत्ति, जिसको व्याप्ति अथवा अविनाभाव भी कहते हैं, तर्क प्रमाणसे निर्णीत हुई हो उसको साधन कहते हैं । इस विषयमें कुमारनन्दी भट्टारकने ऐसा कहा है कि "लिङ्ग उसको समझो कि जिसका लक्षण अन्यथानुपपत्ति ही है" । अर्थात् जिसका इस प्रकारका सम्बन्ध निश्चित है कि यह साध्यके विना नहीं रहता उसीको साधन कहते हैं।

किं तत्साध्यं यदविनाभावः साधनलक्षणम्? उच्यते । शक्यमभिप्रेतमप्रसिद्धं साध्यम् । यत्प्रत्यक्षादिप्रमाणाबाधितत्वेन साधयितुं शक्यं, वाद्यभिमतत्वेनाभिप्रेतं, सन्देहाद्याक्रान्तत्वेनाप्रसिद्धं, तदेव साध्यम् । अशक्यस्य साध्यत्वे वह्न्यनुष्णत्वादेरपि साध्यत्वप्रसङ्गात् । प्रसिद्धस्य साध्यत्वे पुनरनुमानवैयर्थ्यात् ।

जिसके अविनाभावको साधनका लक्षण कहते हैं उस साध्यका लक्षण क्या है? जो शक्य और अभिप्रेत तथा अप्रसिद्ध हो उसको साध्य कहते हैं। अर्थात्–जिसमें प्रत्यक्षादि प्रमाणसे बाधा न आवे इस प्रकारसे जो सिद्ध किया जासके उसको शक्य कहते हैं; जो वादीको अभिमत हो उसको अभिप्रेत

कहते हैं तथा जिसमें सन्देहादिक मौजूद हों उसको अप्रसिद्ध कहते हैं। इस प्रकार जिसमें उक्त तीनों बातें पाई जायं उसीको साध्य कहते हैं। जो शक्य नहीं है उसको भी यदि साध्य माना जाय तो वह्निमें उष्णताका अभाव भी साध्य हो जायगा। इसी प्रकार जो सिद्ध है उसको भी साध्य माना जाय तो अनुमान व्यर्थ समझा जायगा, क्योंकि जब साध्य पहलेसे ही सिद्ध है तब अनुमानका क्या प्रयोजन?

तदुक्तं न्यायविनिश्चये "साध्यं शक्यमभिप्रेतमप्रसिद्धं ततोऽपरम्। साध्याभासं विरुद्धादि साधनाविषयत्वतः॥१॥" इति। अयमर्थः यच्छक्यमभिप्रेतमप्रसिद्धं तत्साध्यं। ततोऽपरं साध्याभासम्। किं तत्? विरुद्धादि। विरुद्धं प्रत्यक्षादिबाधितम्। आदिशब्दादनभिप्रेतं प्रसिद्धं चेति। कुत एतत्? साधनाविषयत्वतः साधनेन गोचरीकर्तुमशक्यत्वात्। इत्यकलङ्कदेवानामभिप्रायलेशः, तदभिप्रायसाकल्यं तु स्याद्वादविद्यापतिर्विवेद।

यही बात न्यायविनिश्चयालङ्कारमें कही है कि "साध्यं शक्यमभिप्रेतमप्रसिद्धं ततोऽपरम्। साध्याभासं विरुद्धादि साधनाविषयत्वतः"। अर्थात् जो शक्य, अभिप्रेत, और अप्रसिद्ध है वह साध्य है। जो ऐसा नहीं है वह साध्याभास है। वह कौन है? विरुद्धादिक। जो प्रत्यक्षादिसे बाधित हो उसको विरुद्ध कहते हैं। आदि शब्दसे अनभिप्रेत तथा प्रसिद्ध समझना चाहिये। क्योंकि वे साधनके विषय नहीं हैं। अर्थात् साधनसे उनका ज्ञान नहीं हो सकता। यह अकलङ्कदेवके अभिप्रायका लेशमात्र है उनके सम्पूर्ण अभिप्रायको तो स्याद्वादविद्यापतिने ही जाना है।

साधनसाध्यद्वयमधिकृत्य श्लोकवार्तिकं च "अन्यथानुप-

पत्त्येकलक्षणं तत्र साधनम् । साध्यं शक्यमभिप्रेतमप्रसिद्ध-मुदाहृतम्" इति ॥ १ ॥ तदेवमविनाभावैकलक्षणात् साधना-च्छक्याभिप्रेताप्रसिद्धरूपस्य साध्यस्य ज्ञानमनुमानमिति सिद्धम् ।

साधन और साध्य इन दोनोंके विषयमें श्लोकवार्तिकमें भी कहा है कि "जो साध्यके विना न पाया जाय वह साधन कहाता है और जो शक्य, अभिप्रेत तथा अप्रसिद्ध हो उसको साध्य कहते हैं"। इससे यह सिद्ध हुआ कि अविनाभाव ही है मुख्य लक्षण जिसका ऐसे साधनसे उत्पन्न हुए शक्य, अभिप्रेत, तथा अप्रसिद्धरूप साध्यके ज्ञानको अनुमान कहते हैं।

तदनुमानं द्विविधं स्वार्थं परार्थं च । तत्र स्वयमेव निश्चिता-त्साधनात्साध्यज्ञानं स्वार्थानुमानम् । परोपदेशमनपेक्ष्य स्वय-मेव निश्चितात्प्राक्तर्कानुभूतव्याप्तिस्मरणसहकृताद्धूमादेः साध-नादुत्पन्नं पर्वतादौ धर्मिण्यग्न्यादेः साध्यस्य ज्ञानं स्वार्थानुमान-मित्यर्थः । यथा पर्वतोयमग्निमान्धूमवत्त्वादिति । अयं हि स्वार्थानुमानस्य ज्ञानरूपस्यापि शब्देनोल्लेखो, यथायं घट इति शब्देन प्रत्यक्षस्य पर्वतोयमग्निमान्धूमवत्त्वादित्यनेन प्रकारेण प्रमाता जानातीति स्वार्थानुमानस्थितिरवगन्तव्या ।

उस अनुमानके दो भेद हैं, एक स्वार्थ दूसरा परार्थ । स्वयं ही निश्चित किये हुए साधनसे उत्पन्न हुए साध्यके ज्ञानको स्वार्था-नुमान कहते हैं। अर्थात् दूसरेकी अपेक्षा न रखकर स्वयं ही निश्चित, तथा तर्कप्रमाणसे जिसका पहले ही अनुभव हो चुकता है ऐसी व्याप्तिके स्मरणसे युक्त, ऐसे धूमादिक हेतुसे पर्वतादि धर्मीमें उत्पन्न होनेवाला जो अग्नि आदिक साध्यका ज्ञान उसको स्वार्थानुमान कहते हैं। जैसे कि यह पर्वत अग्निवाला है क्योंकि

यहांपर धुआँ है । यद्यपि स्वार्थानुमान ज्ञानरूप है तो भी उसका शब्दद्वारा यह उल्लेख करदिया है । जैसे कि "यह घट है" इत्यादि शब्दोंद्वारा प्रत्यक्षका उल्लेख होता है । अर्थात् इस उल्लेखसे यह समझना चाहिये कि जिसको स्वार्थानुमान होता है वह "यह पर्वत अग्निवाला है, क्योंकि यहांपर धुआँ है" इस प्रकारसे जानता है । यह स्वार्थानुमानका स्वरूप समझना ।

अस्य च स्वार्थानुमानस्य त्रीण्यङ्गानि—धर्मी, साध्यं, साधनं च । तत्र साधनं गमकत्वेनाङ्गम् । साध्यं तु गम्यत्वेन । धर्मी पुनः साध्यधर्माधारत्वेन । आधारविशेषनिष्ठतया हि साध्यसिद्धिरनुमानप्रयोजनं, धर्ममात्रस्य तु व्याप्तिनिश्चयकाल एव सिद्धत्वात्, यत्र यत्र धूमवत्त्वं तत्र तत्राग्निमत्त्वमिति ।

इस स्वार्थानुमानके तीन अङ्ग हैं, धर्मी, साध्य, और साधन । इनमेंसे साधन तो साध्यका ज्ञान करानेवाला होनेसे अनुमानका अङ्ग है तथा साध्य गम्य है इसलिये अङ्ग है । एवं धर्मी साध्यरूप धर्मका आधार है इसलिये अङ्ग है । क्योंकि किसी एक आधारमें साध्यकी सिद्धि करना ही अनुमानका प्रयोजन (फल) है । केवल धर्मकी (साध्यकी) सिद्धिमात्र विना आधार करना प्रयोजन नहीं है, क्योंकि "जहां जहां धूम होता है वहां वहां अग्नि होती है" इस प्रकार व्याप्तिका निश्चय जिस समय हुआ था उसी समय उस धर्ममात्रका तो निश्चय हो ही चुका था ।

पक्षो हेतुरित्यङ्गद्वयं स्वार्थानुमानस्य, साध्यधर्मविशिष्टस्य धर्मिणः पक्षत्वात् । तथाच स्वार्थानुमानस्य धर्मिसाध्यसाधनभेदात्त्रीण्यङ्गानि पक्षसाधनभेदादङ्गद्वयं चेति सिद्धं, विवक्षाया वैचित्र्यात् । पूर्वत्र हि धर्मिधर्मभेदविवक्षा । उत्तरत्र तु तत्समुदायविवक्षा । स एव धर्मित्वेनाभिमतः प्रसिद्ध एव । तदुक्तमभियुक्तैः "प्रसिद्धो धर्मी" इति ।

स्वार्थानुमानके पक्ष और हेतु इस प्रकार दो अङ्ग भी माने जाते हैं। क्योंकि पक्ष कहनेसे साध्यरूप धर्मसे युक्त धर्मीका ही बोध होता है। इससे यह फलितार्थ सिद्ध हुआ कि स्वार्थानुमानके धर्मी, साध्य, साधनके भेदसे तीन अङ्ग होते हैं और पक्ष, साधनके कहनेसे दो अङ्ग होते हैं। इसमें केवल विवक्षाकी विचित्रता है। अर्थात् जब तीन अङ्ग विवक्षित हैं तब धर्मी और धर्ममें भेद विवक्षित है और जब दो अङ्ग इष्ट हों तब दोनों (धर्मी और धर्म)के समुदायकी विवक्षा समझनी चाहिये। उक्त तीनों अङ्गोंमें जो धर्मी है वह प्रसिद्ध ही होता है। सोई माणिक्यनन्दि भट्टारकने ऐसा कहा है कि "धर्मी प्रसिद्ध (ही) होता है"।

प्रसिद्धत्वं च धर्मिणः क्वचित्प्रमाणात्क्वचिद्विकल्पात्क्वचित्प्रमाणविकल्पाभ्याम्। तत्र प्रत्यक्षाद्यन्यतमावधृतत्वं प्रमाणप्रसिद्धत्वम्। अनिश्चितप्रामाण्याप्रामाण्यप्रत्ययगोचरत्वं विकल्पप्रसिद्धत्वम्। तद्द्वयविषयत्वं प्रमाणविकल्पप्रसिद्धत्वम्।

धर्मीकी प्रसिद्धि कहीं तो प्रमाणसे, कहीं विकल्पसे, और कहीं प्रमाण विकल्प दोनोंसे होती है। प्रत्यक्षादिमेंसे किसी भी एक प्रमाणद्वारा जिसका निश्चय हो उसको प्रमाणप्रसिद्ध धर्मी कहते हैं। "यह प्रमाणका विषय है" अथवा "यह अप्रमाणका विषय है" इस प्रकार दोनोंमेंसे जिसका कुछ भी निश्चय प्रमाणद्वारा तो न हो किंतु साध्यसिद्धिमात्र करनेके लिये जो कल्पित करलिया हो उसको विकल्पप्रसिद्ध धर्मी कहते हैं। जो दोनोंका विषय हो उसको प्रमाणविकल्पप्रसिद्ध धर्मी कहते हैं। अर्थात् जिसका कुछ अंश किसी प्रमाणसे सिद्ध हो और कुछ अंश अनिश्चित हो उसको प्रमाणविकल्पप्रसिद्ध धर्मी कहते हैं।

तत्र प्रमाणसिद्धो धर्मी यथा धूमवत्त्वादग्निमत्त्वे साध्ये पर्वतः खलु प्रत्यक्षेणानुभूयते। विकल्पसिद्धो यथा, सर्वज्ञः

अस्ति सुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाणत्वादित्यस्तित्वे साध्ये सर्वज्ञः। अथवा खरविषाणं नास्तीति नास्तित्वे साध्ये खरविषाणम्। सर्वज्ञो ह्यस्तित्वसिद्धेः प्राङ्, न प्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्धः। अपि तु प्रतीतिमात्रसिद्ध इति विकल्पसिद्धोयं धर्मी। तथा खरविषाणमपि नास्तित्वसिद्धेः प्राग् विकल्पसिद्धम्।

जैसे धूम हेतुसे अग्निको सिद्ध करते समय अग्निरूप साध्यका आधारभूत जो पर्वतरूप धर्मी वह प्रत्यक्ष प्रमाणसे सिद्ध है उसीप्रकार जो धर्मी किसी प्रमाणसे सिद्ध हो उसको प्रमाणसिद्ध कहते हैं। कोई न कोई सर्वज्ञ है क्योंकि इसका बाधक प्रमाण निश्चयसे असम्भव है; यहांपर अस्तित्वरूप साध्यका आधारभूत सर्वज्ञ विकल्पसिद्ध धर्मी है, क्योंकि अस्तित्वसिद्धिसे पहले सर्वज्ञ प्रत्यक्षादि किसी भी प्रमाणसे सिद्ध नहीं है। इसी प्रकार खरविषाण नहीं है, क्योंकि उसका साधक कोई प्रमाण नहीं है; यहांपर नास्तित्वरूप साध्यका आधारभूत खरविषाण, नास्तित्व सिद्धिसे पहले किसी भी प्रमाणसे सिद्ध नहीं है इसलिये यह भी विकल्पसिद्ध धर्मी है।

उभयसिद्धो धर्मी यथा शब्दः परिणामी कृतकत्वादित्यत्र शब्दः। स हि वर्तमानः प्रत्यक्षगम्यः, भूतो भविष्यंश्च विकल्पगम्यः। स सर्वोपि धर्मीति प्रमाणविकल्पसिद्धो धर्मी। प्रमाणोभयसिद्धयोः साध्यं कामचारः। विकल्पसिद्धे तु धर्मिणि सत्तासत्तयोरेव साध्यत्वमिति नियमः, तदुक्तं "विकल्पसिद्धे तस्मिन्सत्तेतरे साध्ये" इति। तदेवं परोपदेशानपेक्षिणः साधनाद् दृश्यमानाद्धर्मिनिष्ठतया साध्ये यद्विज्ञानं तत्स्वार्थानुमानमिति स्थितम्। तदुक्तं "परोपदेशाभावेपि साधनात्साध्यबोधनम्। यद्द्रष्टुर्जायते स्वार्थमनुमानं तदुच्यते"। इति।

शब्द परिणामी है, क्योंकि वह कृत्रिम है। यहांपर शब्द, उभयसिद्ध धर्मी है; क्योंकि वर्तमान शब्द प्रत्यक्षप्रमाणसे सिद्ध है और भूत तथा भविष्यत् शब्द विकल्पसिद्ध हैं, क्योंकि परिणामित्वरूप साध्यकी सिद्धिसे पहले भूत भविष्यत् शब्दका स्वरूप प्रत्यक्षादि प्रमाणसे सिद्ध नहीं है, किंतु कल्पनामात्रसे आरोपित कर लिया जाता है, परंतु वह संपूर्ण ही, शब्द अर्थात्-भूत, भविष्यत्, वर्तमान, तीनों ही अवस्थाका शब्द धर्मी माना गया है, इसलिये शब्दरूप धर्मी प्रमाणविकल्प सिद्ध है। अर्थात् शब्दका एकदेश प्रत्यक्षादि प्रमाणसे सिद्ध है और एकदेश नहीं इसलिये शब्दरूप धर्मी प्रमाणविकल्पसिद्ध है। प्रमाणसिद्ध अथवा उभयसिद्ध धर्मीमें इच्छानुसार चाहे जो कुछ साध्य हो सकता है। अर्थात् इन दो प्रकारके धर्मियोंमें चाहे जो सिद्ध कर सकते हैं। परन्तु विकल्पसिद्ध धर्मीमें यह नियम है कि उसकी सत्ता या असत्ता ही साध्य हो सकती है। इसीलिये माणिक्यनन्दी स्वामीने ऐसा कहा है कि "विकल्पसिद्ध धर्मीमें सत्ता या असत्ता ही साध्य होती है"। इससे यह सिद्ध हुआ कि "दूसरेकी अपेक्षा न रखनेवाले पुरुषको स्वयं दीखनेवाले साधनद्वारा किसी धर्मीमें जो साध्यका ज्ञान होता है उसको स्वार्थानुमान कहते हैं"। ऐसा कहा भी है कि "परोपदेश विना ही द्रष्टाको [अनुमान करनेवालेको] साधनसे साध्यका जो ज्ञान हो वह स्वार्थानुमान है।"

परोपदेशमपेक्ष्य साधनात्साध्यविज्ञानं तत्परार्थानुमानम्। प्रतिज्ञाहेतुरूपपरोपदेशवशाच्छ्रोतुरुत्पन्नं साधनात्साध्यविज्ञानं परार्थानुमानमित्यर्थः। यथा पर्वतोयमग्निमान् भवितुमर्हति धूमवत्त्वान्यथानुपपत्तेरिति वाक्ये केनचित्प्रयुक्ते तद्वाक्यार्थं पर्यालोचयतः स्मृतव्याप्तिकस्य श्रोतुरनुमानमुपजायते।

दूसरेका उपदेश सुननेसे जो साधनसे साध्यका ज्ञान हो,

वह परार्थानुमान है। अर्थात् प्रतिज्ञा और हेतुरूप दूसरेका उपदेश सुननेवालेको जो साधनसे साध्यका ज्ञान होता है उसे परार्थानुमान कहते हैं। जैसे कि "इस पर्वतमें अग्नि होनी चाहिये, क्योंकि यदि यहांपर अग्नि न होती तो धूम नहीं हो सकता था" इस प्रकार किसीके कहनेपर सुननेवालेको उक्त वाक्यके अर्थका विचार करते हुए और व्याप्तिका स्मरण होनेसे जो अनुमान होता है वह परार्थानुमान है।

परोपदेशवाक्यमेव परार्थानुमानमिति केचित्, त एवं प्रष्टव्याः, तत्किं मुख्यानुमानमथवा गौणानुमानमिति? न तावन्मुख्यानुमानम्, वाक्यस्याज्ञानरूपत्वात्। गौणानुमानं तद्वाक्यमिति त्वनुमन्यामहे, तत्कारणे तद्व्यपदेशोपपत्तेरायुर्वै घृतमित्यादिवत्। तस्यैतस्य परार्थानुमानस्याङ्गसम्पत्तिः= स्वार्थानुमानवत्परार्थानुमानप्रयोजकस्य च वाक्यस्य द्वाववयवौ, प्रतिज्ञा हेतुश्च।

कोई (नैयायिक) दूसरेके वचनको ही परार्थानुमान कहते हैं, अर्थात्-जिस वाक्यसे दूसरेको अनुमान होता है, वह वाक्य ही परार्थानुमान हैं, ऐसा कहते हैं; परन्तु उनसे यह पूछना चाहिये कि वह वाक्य मुख्यानुमान है अथवा गौणानुमान? मुख्यानुमान तो हो नहीं सकता, क्योंकि वाक्य अज्ञानरूप होता है। यदि गौणानुमान है तो ठीक है, क्योंकि अनुमानरूप कार्यका उपचार उसके कारणभूत वाक्यमें हो सकता है, जैसे कि "घृत ही आयु है" इस दृष्टान्तमें आयुके कारणरूप घृतको ही आयु कह दिया है। उक्त परार्थानुमान जिस वाक्यसे उत्पन्न होता है उस वाक्यके स्वार्थानुमानकी तरह दो अवयव हैं; एक प्रतिज्ञा दूसरा हेतु। यही इस परार्थानुमानका अवयवविभाग समझना चाहिये।

तत्र धर्मधर्मिसमुदायरूपस्य पक्षस्य वचनं प्रतिज्ञा। यथा

पर्वतोयमग्निमानिति । साध्याविनाभाविसाधनवचनं हेतुः । यथा धूमवत्त्वान्यथानुपपत्तेरिति, तथैव धूमवत्त्वोपपत्तेरिति वा । अनयोर्हेतुप्रयोगयोरुक्तिवैचित्र्यमात्रम् । पूर्वत्र धूमवत्त्वान्यथानुपपत्तेरिति अयमर्थः—धूमवत्त्वस्याग्निमत्त्वाभावेऽनुपपत्तेरिति निषेधमुखेन प्रतिपादनम् । द्वितीये तु तथैव धूमवत्त्वोपपत्तेरिति अयमर्थः—अग्निमत्त्वे सत्येव धूमवत्त्वोपपत्तेरिति विधिमुखेन कथनम् । अर्थस्तु न भिद्यते, उभयत्राप्यविमाभाविसाधनाभिधानाविशेषात् । ततस्तयोर्हेतुप्रयोगयोरन्यतर एव वक्तव्य उभयप्रयोगे पौनरुक्त्यात् । तथा चोक्तलक्षणा प्रतिज्ञा, एतयोरन्यतरो हेतुप्रयोगश्चेत्यवयवद्वयं परार्थानुमानवाक्यस्येति, व्युत्पन्नस्य श्रोतुस्तावन्मात्रेणैवानुमित्युदयात् ।

धर्म और धर्मीके समुदायरूप पक्षके कहनेको प्रतिज्ञा कहते हैं। जैसे कि "यह पर्वत अग्निसहित है।" साध्यके विना न होनेवाले साधनको दिखाना सो हेतु है। जैसे कि "क्योंकि अन्यथा यहांपर धूम नहीं हो सकता अथवा अग्नि रहनेपर ही धूम हो सकता है" इन दोनों ही हेतुओंके प्रयोगोंमें केवल कहनेकी विचित्रता है। "अन्यथा धूम नहीं होसकता" इसका यह अर्थ है कि अग्निके अभावमें धूम नहीं होसकता। यहांपर यह कहना निषेधकी मुख्यतासे समझना चाहिये। "क्योंकि यहांपर धूम है" इस दूसरे हेतु प्रयोगका यह अर्थ है कि अग्निके होनेपर ही धूम होता है। अर्थात् यहांपर विधिमुखसे कथन है। दोनों ही हेतुप्रयोगोंके अर्थमें कोई भेद नहीं है। क्योंकि साध्यके होनेपर ही साधनका होना दोनों प्रयोगोंमें समान दिखाया गया है। अत एव दोनों प्रयोगोंमेंसे कोई एक कहना चाहिये; क्योंकि दोनोंके कहनेसे पुनरुक्ति दोष हो जाता है। इस-

लिये प्रतिज्ञा, जिसका कि पहले लक्षण कह चुके हैं, और दोनों हेतुप्रयोगोंमेंसे एक हेतुप्रयोग ये दो परार्थानुमानवाक्यके अवयव हैं; व्युत्पन्न श्रोताको इन दो अवयवोंसे ही अनुमान हो जाता है।

नैयायिकास्तु परार्थानुमानप्रयोगस्य यथोक्ताभ्यां द्वाभ्यामवयवाभ्यां सममुदाहरणमुपनयो निगमनं चेति पञ्चावयवानाहुः। तथाच ते सूत्रयन्ति "प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवाः" इति। तांश्च ते लक्षणपुरस्सरमुदाहरन्ति। तद्यथा—"पक्षवचनं प्रतिज्ञा, यथा पर्वतोयमग्निमानिति। साधनत्वप्रकाशनार्थं पञ्चम्यन्तं लिङ्गवचनं हेतुः, यथा धूमवत्त्वादिति।

नैयायिक परार्थानुमानप्रयोगके उक्त दोनों अवयवोंको स्वीकार करते हुए उदाहरण, उपनय, निगमन ये तीन अवयव और भी मानकर पांच अवयव मानते हैं। उनके यहांका यह सूत्र है कि "प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवाः"। इसका अर्थ-प्रतिज्ञा हेतु उदाहरण उपनय निगमन ये पांच अनुमानके अवयव हैं। इन पांचों ही अवयवोंको वे लक्षणों तथा उदाहरणोंद्वारा इस प्रकार निरूपण करते हैं कि "पक्षके वचनको प्रतिज्ञा कहते हैं, जैसे कि यह पर्वत अग्निमान् है। साधनपना दिखानेके लिये, अर्थात् यह साध्यका साधक है यह दिखानेके लिये लिङ्गके पञ्चम्यन्त उच्चारणको हेतु कहते हैं, जैसे कि—क्योंकि यहांपर धूम है।

व्याप्तिपूर्वकदृष्टान्तवचनमुदाहरणम्। यथा यो यो धूमवानसावसावग्निमान्यथा महानसः। इति साधर्म्योदाहरणम्। यो योऽग्निमान्न भवति स स धूमवान्न भवति यथा महाहृदः। इति वैधर्म्योदाहरणम्। पूर्वत्रोदाहरणभेदे हेतोरन्वयव्याप्तिः

प्रदर्श्येते। द्वितीये तु व्यतिरेकव्याप्तिः। तद्यथा–अन्वयव्याप्तिप्रदर्शनस्थानमन्वयदृष्टान्तः। व्यतिरेकव्याप्तिप्रदर्शनप्रदेशो व्यतिरेकदृष्टान्तः। एवं दृष्टान्तद्वैविध्यात्तद्वचनस्योदाहरणस्यापि द्वैविध्यं बोद्धव्यम्। अनयोश्चोदाहरणयोरन्यतरप्रयोगेणैव पर्याप्तत्वादितराप्रयोगः।

व्याप्तिपूर्वक दृष्टान्तके कहनेको उदाहरण कहते हैं। जैसे कि जो जो धूमवान् होता है वह वह अग्निमान् होता है, जैसे महानस[1]। यह साधर्म्यका[2] (अन्वयरूप) उदाहरण है। जो जो अग्निमान् नहीं होता वह वह धूमवान् भी नहीं होता, जैसे कि तालाव। यह वैधर्म्यका[3] (व्यतिरेकरूप) उदाहरण है। पहले उदाहरणमें हेतुकी अन्वयव्याप्ति दिखाई है, और दूसरेमें व्यतिरेकव्याप्ति। जहांपर अन्वयव्याप्ति दिखाई जाय उसको अन्वयदृष्टान्त कहते हैं, और जहांपर व्यतिरेकव्याप्ति दिखाई जाय उसको व्यतिरेकदृष्टान्त कहते हैं। इस प्रकार दृष्टान्तके दो भेद होनेसे दृष्टान्तके कथनरूप उदाहरणके भी दो भेद समझना चाहिये। इन दोनों उदाहरणोंके प्रयोगोंमेंसे एकसे ही काम चल सकता है, इसलिये दोनोंका प्रयोग न करके एकका ही प्रयोग करना चाहिये।

दृष्टान्तापेक्षया पक्षहेतोरुपसंहारवचनमुपनयः। तथा चायं धूमवानिति। हेतुपूर्वकं पक्षवचनं निगमनं, तस्मादग्निमानेवेति। एते पञ्चावयवाः परार्थानुमानप्रयोगस्य। तदन्यतमाभावे वीतरागकथायां विजिगीषुकथायां वा नानुमितिरुदेति" इति नैयायिकानामभिमतम्।

---

१ रसोईघर। २ जहांपर अन्वयव्याप्ति दिखाई जाय उसको साधर्म्य कहते हैं। ३ जहांपर व्यतिरेकव्याप्ति दिखाई जाय उसको वैधर्म्य–दृष्टान्त कहते हैं।

दृष्टान्तकी अपेक्षासे पक्ष और हेतुके उपसंहार करनेवाले वचनको उपनय कहते हैं जैसे कि–यह भी उसीतरह धूमवान् है। हेतुपूर्वक पक्षके दिखानेको निगमन कहते हैं, जैसे कि–इसलिये यह अग्निमान् है। ये परार्थानुमानप्रयोगके पांच अवयव हैं। इनमेंसे एकके भी न होनेपर वीतरागकथा हो या विजिगीषुकथा हो कहीं भी अनुमान नहीं हो सकता।" यह नैयायिकोंका मन्तव्य है। परन्तुः—

तदेतदविमृश्याभिमननम्। वीतरागकथायां तु प्रतिपाद्याशयानुरोधेनावयवाधिक्येऽपि विजिगीषुकथायां प्रतिज्ञाहेतुरूपावयवद्वयेनैव पर्याप्तेः किमप्रयोजनैरन्यैरवयवैः।

यह उनका अविचारपूर्वक मानना है; क्योंकि वीतरागकथामें शिष्यके आशयके अनुसार यद्यपि अधिक अवयव माने जा सकते हैं, तथापि विजिगीषुकथामें प्रतिज्ञा और हेतु इन दो ही अवयवोंसे जब काम चल सकता है तब निष्प्रयोजन अधिक अवयव माननेकी क्या आवश्यकता है?

तथा हि, वादिप्रतिवादिनोः स्वमतस्थापनार्थं जयपराजयपर्यन्तं परस्परं प्रवर्तमानो वाग्व्यापारो विजिगीषुकथा। गुरुशिष्याणां विशिष्टविदुषां वा रागद्वेषरहितानां तत्त्वनिर्णयपर्यन्तं परस्परं प्रवर्तमानो वाग्व्यापारो वीतरागकथा। तत्र विजिगीषुकथा वाद इति चोच्यते। केचिद्वीतरागकथा वाद इति कथयन्ति तत्पारिभाषिकमेव। नहि लोके गुरुशिष्यादिवाग्व्यापारे वादव्यवहारः, विजिगीषुवाग्व्यवहार एव वादत्वप्रसिद्धेः। यथा स्वामिसमन्तभद्राचार्यैः सर्वे सर्वथैकान्तवादिनो वादे जिता इति।

वादी और प्रतिवादीमें, अपने अपने मतके स्थापन करनेके

लिये, जब तक एकका जय और दूसरेका पराजय न हो, तब तक प्रवर्तनेवाले वचनव्यवहारको विजिगीषुकथा कहते हैं। जब तक तत्त्वनिर्णय न होजाय तब तक गुरुशिष्यमें अथवा राग-द्वेषरहित विशेष विद्वानोंमें परस्पर होनेवाले वचनव्यवहारको वीतरागकथा कहते हैं। विजिगीषुकथाको वाद भी कहते हैं। कोई वीतरागकथाको ही वाद कहते हैं, परन्तु यह केवल उनके घरका संकेत है; क्योंकि गुरु और शिष्यके वचनव्यवहारको लोकमें कोई भी वाद नहीं कहता। जो विजिगीषुकथा है उसीमें वादशब्दकी प्रसिद्धि है। जैसे कि "स्वामी श्रीसमन्तभद्राचार्यने वादमें सम्पूर्ण सर्वथा एकान्तवादियोंको जीता"।

तस्मिंश्च वादे परार्थानुमानवाक्यस्य प्रतिज्ञा हेतुरित्यवयवद्वयमेवोपकारकं, नोदाहरणादिकम्। तद्यथा, लिङ्गवचनात्मकेन हेतुना तावदवश्यं भवितव्यम्। लिङ्गज्ञानाभावेऽनुमितेरेवानुदयात्। पक्षवचनरूपया प्रतिज्ञयापि च भवितव्यं, अन्यथाऽभिमतसाध्यनिश्चयाभावे साध्यसन्देहवतः श्रोतुरनुमित्यनुदयात्। तदुक्तं "एतद् द्वयमेवानुमानाङ्गम्" इति। अयमर्थः, एतयोः प्रतिज्ञाहेत्वोर्द्वयमेवानुमानस्य परार्थानुमानस्याङ्गम्। वादे इति शेषः। एवकारेणावधारणपरेण नोदाहरणादिकमिति सूचितं भवति। व्युत्पन्नस्यैव हि वादाधिकारः। प्रतिज्ञाहेतुप्रयोगमात्रेणैवोदाहरणादिप्रतिपाद्यस्यार्थस्य गम्यमानस्य व्युत्पन्नेन ज्ञातुं शक्यत्वात्। गम्यमानस्याप्यभिधाने पौनरुक्त्यप्रसङ्गात्।

उक्त वादमें परार्थानुमानके लिये बोलेहुए वाक्यके प्रतिज्ञा और हेतु ऐसे दो अवयव ही प्रयोजीनभूत हैं, उदाहरणादिक नहीं; क्योंकि, लिङ्गकथनरूप हेतुका प्रयोग तो करना ही चाहिये; क्योंकि

जब तक लिङ्गका ज्ञान न होगा तब तक अनुमान ही नहीं हो सकता। इसी प्रकार पक्षके वचनरूप प्रतिज्ञाको भी अवश्य कहना चाहिये; नहीं तो साध्यका प्रयोग न करनेसे श्रोताको साध्यमें सन्देह बना रहेगा, और अत एव इष्ट साध्यका निश्चय न होनेसे अनुमान भी नहीं होगा। ऐसा कहा है कि "एतद्द्वयमेवानुमानाङ्गम्" अर्थात् वादमें प्रतिज्ञा और हेतु ये दो ही अनुमानके अर्थात् परार्थानुमानके अङ्ग माने गये हैं। यहांपर जो निश्चयार्थक 'एव' शब्दका उच्चारण किया है उससे यह सूचित होता है कि उदाहरणादिक अङ्गोंकी वादमें आवश्यकता नहीं है; क्योंकि व्युत्पन्नका ही वादमें अधिकार है और जो व्युत्पन्न है वह उस अर्थको प्रतिज्ञा और हेतु इन दो अवयवोंसे ही जान सकता है कि जो अर्थ उदाहरणादिकसे जाना जाता है। जो अर्थ एकसे जाना जा सकता है उसीकेलिये दूसरा तीसरा प्रयोग करनेसे पुनरुक्ति दोष आता है।

स्यादेतत्। प्रतिज्ञाप्रयोगेऽपि पौनरुक्त्यमेव, तदभिधेयस्य पक्षस्यापि प्रस्तावादिना गम्यमानत्वात्। तथाच, लिङ्गवचनलक्षणो हेतुरेक एव वादे प्रयोक्तव्यः। इति वदन् बौद्धः पशुरात्मनो दुर्विदग्धतामुद्घोषयति। हेतुमात्रप्रयोगे व्युत्पन्नस्यापि साध्यसन्देहानिवृत्तेः। तस्मादवश्यं प्रतिज्ञा प्रयोक्तव्या। तदुक्तं "साध्यसन्देहापनोदार्थं गम्यमानस्यापि पक्षस्य वचनम्" इति। तदेवं वादापेक्षया परार्थानुमानस्य प्रतिज्ञाहेतुरूपमवयवद्वयमेव, न न्यूनं, नाधिकमिति स्थितम्। प्रपञ्चः पुनरवयवविचारस्य पत्रपरीक्षायामीक्षणीयः।

(शङ्का) प्रतिज्ञाका प्रयोग करनेसे भी तो पुनरुक्ति आती ही है; क्योंकि प्रतिज्ञाके प्रयोगसे जिस पक्षका निरूपण किया जाता है वह प्रकरण आदिके द्वारा भी जाना जा सकता है। इसलिये

वादमें लिङ्गके कथनरूप केवल हेतुका ही प्रयोग करना चाहिये। (समाधान)-इस प्रकार कहनेवाला बौद्ध=पशु अपनी मूर्खता प्रगट करता है; क्योंकि केवल हेतुका प्रयोग करनेसे व्युत्पन्नको भी साध्यमें सन्देह बना रह सकता है। इस लिये प्रतिज्ञाका प्रयोग करना ही चाहिये। ऐसा कहा भी है कि "यद्यपि पक्ष जाना हुआ हो तथापि साध्यविषयक सन्देह दूर करनेके लिये उसका प्रयोग करना चाहिये"। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि वादकी अपेक्षा परार्थानुमानके प्रतिज्ञा और हेतु ये दो ही अवयव हैं, न कम, न अधिक। यदि यह अवयवोंका विचार विस्तारपूर्वक देखना हो तो पत्रपरीक्षामें देखना चाहिये।

वीतरागकथायां तु प्रतिपाद्याशयानुरोधेन प्रतिज्ञाहेतू द्वाववयवौ, प्रतिज्ञाहेतूदाहरणानि त्रयः, प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयाश्चत्वारः, प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनानि वा पञ्चेति यथायोग्यं प्रयोगपरिपाटी। तदुक्तं कुमारनन्दिभट्टारकैः "प्रयोगपरिपाटी तु प्रतिपाद्यानुरोधतः" इति। तदेवं प्रतिज्ञादिरूपात्परोपदेशादुत्पन्नं परार्थानुमानम्। तदुक्तं "परोपदेशसापेक्षं साधनात्साध्यवेदनम्। श्रोतुर्यज्जायते सा हि परार्थानुमितिर्मता ॥ १ ॥" इति। तथाच स्वार्थं परार्थं चेति द्विविधमनुमानं साध्याविनाभावनिश्चयैकलक्षणाद्धेतोरुत्पद्यते।

किन्तु वीतरागकथामें शिष्यके आशयानुसार यथायोग्य प्रतिज्ञा और हेतु इन दो अवयवोंका, प्रतिज्ञा हेतु उदाहरण इन तीन अवयवोंका, प्रतिज्ञा हेतु उदाहरण उपनय इन चार अवयवोंका अथवा प्रतिज्ञा हेतु उदाहरण उपनय निगमन इन पांच अवयवोंका भी प्रयोग होता है। यही कुमारनन्दीभट्टारकने कहा है कि "अवयव बोलनेकी शैली तो

शिष्यके आशयके अनुसार होती है"। इस प्रकार परार्थानुमान, प्रतिज्ञादिरूप दूसरेके उपदेशसे उत्पन्न होता है। यही कहा है कि "परोपदेश सुनकर जो श्रोताको साधनसे साध्यका ज्ञान होता है उसको परार्थानुमान कहते हैं।" फलितार्थ यह हुआ कि स्वार्थ और परार्थ, दोनों ही प्रकारका अनुमान उस हेतुसे उत्पन्न होता है कि जिसका साध्यके विना न होना निश्चित है।

इत्थमन्यथानुपपत्त्येकलक्षणो हेतुरनुमितिप्रयोजक इति प्रथितेऽप्यार्हतमते तदेतदवितर्क्यान्येऽन्यथाप्याहुः।तत्र तावत्ताथागताः "पक्षधर्मत्वादित्रितयलक्षणाल्लिङ्गादनुमानोत्थानम्" इति वर्णयन्ति। तथा हि "पक्षधर्मत्वं सपक्षे सत्त्वं विपक्षाद्व्यावृत्तिरिति हेतोस्त्रीणि रूपाणि। तत्र साध्यधर्मविशिष्टो धर्मी पक्षः, यथा धूमध्वजानुमाने पर्वतः। तस्मिन् व्याप्य वर्तमानत्वं हेतोः पक्षधर्मत्वम्। साध्यसजातीयधर्मा धर्मी सपक्षः। यथा तत्रैव महानसः। तस्मिन्सर्वत्रैकदेशे वा वर्तमानत्वं हेतोः सपक्षे सत्त्वम्। साध्यविरुद्धधर्मा धर्मी विपक्षः। यथा तत्रैव महाह्रदः, तस्मात्सर्वस्माद्व्यावृत्तत्वं हेतोर्विपक्षाद्व्यावृत्तिः। तानीमानि त्रीणि रूपाणि मिलितानि हेतोर्लक्षणम्। अन्यतमाभावे हेतोराभासत्वं स्यात्" इति।

"जिसका लक्षण केवल अन्यथानुपपत्ति ही है ऐसा हेतु अनुमानका प्रयोजक है" इस प्रकार जैनसिद्धांत युक्तिसंगत प्रसिद्ध होनेपर भी, बहुतसे लोग इस अनुमानका स्वरूप इससे विपरीत ही कहते हैं। उनमेंसे बौद्ध इस प्रकार कहते हैं कि "जिसमें पक्षधर्मत्वादिक तीन स्वभाव पाये जाते हों, ऐसे हेतुसे अनुमानकी उत्पत्ति होती है। अर्थात् पक्षधर्मत्व, सपक्षे सत्व, विपक्षाद्व्यावृत्ति इस प्रकार हेतुके तीन रूप हैं। उनमेंसे जो धर्मी साध्यरूप

धर्मका आश्रय हो, अर्थात् जहांपर साध्यको सिद्ध करना हो उस साध्ययुक्त धर्मीको पक्ष कहते हैं, जैसे कि अग्निका अनुमान करते समय पर्वत। उस पक्षके भीतर हेतुके रहनेको पक्षधर्मत्व कहते हैं। जिसमें साध्यका सजातीय धर्म पाया जाय अर्थात् जहां साध्य साधन दोनों उपलब्ध होते हों उस धर्मीको सपक्ष कहते हैं, जैसे कि इसी अग्निविषयके अनुमानमें रसोईघर। उस सपक्षके एकदेशमें अथवा सम्पूर्ण स्थलमें हेतुके रहनेको सपक्षसत्व कहते हैं। साध्यके विरुद्ध–धर्मवाले स्थलको विपक्ष कहते हैं, जैसे कि अग्निके अनुमानमें महाह्रद। ऐसे ऐसे सम्पूर्ण विपक्षोंसे हेतुके सर्वथा अलग रहनेको विपक्षाद्व्यावृत्ति कहते हैं। उक्त तीनों ही रूप मिलकर हेतुका लक्षण होता है, पृथक् पृथक् नहीं। यदि उक्त तीनों रूपोंमेंसे एक भी रूप जिस हेतुमें न हो तो वह सद्धेतु नहीं है किन्तु उसे हेत्वाभास मानना चाहिये"।

तदसङ्गतं, कृत्तिकोदयादेर्हेतोरपक्षधर्मस्य शकटोदयादि-साध्यगमकत्वदर्शनात्। तथा हि, शकटं धर्मि मुहूर्तान्ते उदेष्यति कृत्तिकोदयादिति। अत्र हि शकटः पक्षः, मुहूर्तान्ते उदयः साध्यः, कृत्तिकोदयो हेतुः। नहि कृत्तिकोदयो हेतुः पक्षीकृते शकटे वर्तते। अतो न पक्षधर्मः। तथाप्यन्यथानुपपत्तिबलाच्छकटोद-याख्यं साध्यं गमयत्येव। तस्माद्बौद्धाभिमतं हेतोर्लक्षणमव्याप्तम्।

परन्तु यह उनका कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, कृत्तिकोदय-रूप हेतुमें यद्यपि पक्षधर्मत्व नहीं है तो भी वह शकटोदयरूप साध्यका निश्चय कराता है। अर्थात् एक मुहूर्तके अनन्तर शकटका उदय होगा, क्योंकि अभी कृत्तिकाका उदय है। यहां-पर शकट धर्मी है और एक मुहूर्तके अनन्तर उसका उदय होना साध्य है। कृत्तिकाका उदय हेतु है। यह कृत्तिकाका उदयरूप हेतु पक्षरूप शकटमें नहीं रहता है, इसलिये इसमें पक्षधर्मत्व नहीं रहा; तथापि, अन्यथानुपपत्तिके बलसे शकटो-

दयरूप साध्यका निश्चय कराता ही है। इसलिये बौद्धके माने-हुए हेतुके लक्षणमें अव्याप्ति दोष आता है।

नैयायिकास्तु पाञ्चरूप्यं हेतोर्लक्षणमाचक्षते । तथा हि, पक्षधर्मत्वं सपक्षे सत्त्वं विपक्षाद्व्यावृत्तिरबाधितविषयत्वमसत्प्रतिपक्षत्वं चेति पञ्चरूपाणि । तत्राद्यानि त्रीण्युक्तलक्षणानि । साध्यविपरीतनिश्चायकप्रबलप्रमाणरहितत्वमबाधितविषयत्वम्। तादृशसमबलप्रमाणशून्यत्वमसत्प्रतिपक्षत्वम् । तद्यथा, पर्वतोऽयमग्निमान् धूमवत्त्वात् । यो यो धूमवान् स सोऽग्निमान्, यथा महानसः । यो योऽग्निमान् न भवति स स धूमवान् न भवति, यथा महाह्रदः । तथा चायं धूमवांस्तस्मादग्निमानेवेति ।

नैयायिक पञ्चरूप होनेको हेतुका लक्षण कहते हैं। अर्थात् पक्षधर्मत्व, सपक्षेसत्व, विपक्षाद्व्यावृत्ति, अबाधितविषयत्व और असत्प्रतिपक्षत्व, इस प्रकार हेतुके पांच रूप हैं। इनमेंसे पहले तीनोंका लक्षण तो पहले कहा जा चुका है। दोका यह सुनियेः-साध्यसे विपरीतताका निश्चय करानेवाला प्रबल प्रमाण जिसमें संभव न हो उसको अबाधितविषयत्व कहते हैं। समानबलके धारक ऐसे साध्यविपरीतनिश्चायक किसी विरुद्ध प्रमाणका जो संभव न होना उसे असत्प्रतिपक्षत्व कहते हैं। अर्थात् यह पर्वत अग्निमान् है, क्योंकि यहांपर धूम है। जहां जहां धूम होता है, वहां वहां अग्नि जरूर होती है, जैसे कि रसोइघरमें। जहां जहां अग्नि नहीं होती, वहां वहां धूम भी नहीं होता, जैसे कि महाह्रदमें। धूमवान् यह भी है इसलिये अग्निमान् भी यह होना चाहिये।

अत्र हि अग्निमत्त्वेन साध्यधर्मेण विशिष्टः पर्वताख्यो धर्मी पक्षः। धूमवत्त्वं हेतुः। तस्य च तावत्पक्षधर्मत्वमस्ति, पक्षीकृते-पर्वते वर्तमानत्वात् । सपक्षे सत्त्वमप्यस्ति, सपक्षे महानसे वर्त-

मानत्वात् । ननु केषुचित्सपक्षेषु धूमवत्त्वं न वर्तते, अङ्गारावस्थापन्नाग्निमत्सु प्रदेशेषु धूमाभावादिति चेन्न, सपक्षैकदेशवृत्तेरपि हेतुत्वात् । सपक्षे सर्वत्रैकदेशे वा वृत्तिर्हेतोः सपक्षे सत्त्वमित्युक्तत्वात् । विपक्षाद्व्यावृत्तिरप्यस्ति, धूमवत्त्वस्य सर्वमहाह्रदादिविपक्षाद्व्यावृत्तेः । अबाधितविषयत्वमप्यस्ति, धूमवत्त्वस्य हेतोर्यो विषयोऽग्निमत्त्वाख्यं साध्यं तस्य प्रत्यक्षादिप्रमाणाबाधितत्वात् । असत्प्रतिपक्षत्वमप्यस्ति, अग्निरहितत्वसाधकसमबलप्रमाणासम्भवात् । तथा च, पाञ्चरूप्यसम्पत्तिरेव धूमवत्त्वस्य साध्यसाधकत्वे निबन्धनम् । एवमेव सर्वेषामपि सद्धेतूनां रूपपञ्चकसम्पत्तिरूहनीया ।

यहांपर अग्निरूप साध्यधर्मसे युक्त पर्वतरूप धर्मी पक्ष है । धूमवत्त्व हेतु है । इसमें पक्षधर्मत्व स्वरूप है, क्योंकि यह पर्वतरूप पक्षमें रहता है । महानसरूप सपक्षमें रहता है, इसलिये सपक्षसत्त्व भी है । यहांपर यह शङ्का नहीं हो सकती कि "जिस स्थानपर अङ्गार अवस्थाको प्राप्त अग्नि है वहांपर धूम नहीं रहता इसलिये किसी किसी सपक्षमें धूमवत्त्व हेतु नहीं रहता है" क्योंकि सपक्षके एकदेशमें रहनेवालेको भी हेतु कहते हैं । ऐसा कहा है कि "सम्पूर्ण सपक्षमें अथवा उसके एकदेशमें भी यदि हेतु रहता हो तो सपक्षसत्व हो जाता है" । विपक्षसे व्यावृत्ति भी है, क्योंकि यह धूमवत्त्व हेतु किसी भी महाह्रदादिरूप विपक्षमें नहीं रहता । अबाधितविषयत्व भी है, क्योंकि धूमरूप हेतुका अग्निरूप साध्य जो विषय है उसके साथ अविनाभाव होनेमें किसी भी प्रत्यक्षादि प्रमाणसे बाधा नहीं आती । इसी प्रकार असत्प्रतिपक्षत्व भी है, क्योंकि धूमयुक्त स्थानमें अग्निके न रहनेका साधक कोई भी समबल प्रमाण अर्थात् अनुमान नहीं है । इसलिये साध्यकी सिद्धि करनेमें हेतुकी पञ्च-

रूप सामग्रीका योग ही कारण है। इसी प्रकार दूसरे स्थानोंमें भी सम्पूर्ण सद्धेतुओंकी पञ्चरूप सामग्रीके योगका विचार कर-लेना चाहिये।

तदन्यतमविरहादेव खलु पञ्च हेत्वाभासाः, असिद्धविरुद्धानैकान्तिककालात्ययापदिष्टप्रकरणसमाख्याः सम्पन्नाः। तथा हि, अनिश्चितपक्षवृत्तिरसिद्धः। यथा अनित्यः शब्दश्चाक्षुषत्वात्। अत्र हि चाक्षुषत्वं हेतुः पक्षीकृते शब्दे न वर्तते, श्रावणत्वात् शब्दस्य। तथा च पक्षधर्मत्वविरहादसिद्धत्वं चाक्षुषत्वस्य। साध्यविपरीतव्याप्तो विरुद्धः। यथा नित्यः शब्दः कृतकत्वादिति। कृतकत्वं हेतुः साध्यभूतनित्यत्वविपरीतेनानित्यत्वेन व्याप्तत्, सपक्षे च गगनादावविद्यमानत्वाद्विरुद्धः।

इन रूपोंमेंसे एकके भी न रहनेसे ही असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक, कालात्ययापदिष्ट, प्रकरणसम इस प्रकार पांच हेत्वाभास हो जाते हैं। जिस हेतुका पक्षमें रहना निश्चित न हो उसको असिद्ध कहते हैं। जैसे कि शब्द अनित्य है, क्योंकि वह चाक्षुष है, अर्थात् चक्षुरिन्द्रियसे उसका जानना होता है। यहांपर चाक्षुषत्व हेतु पक्षरूप शब्दमें नहीं रहता, क्योंकि वह श्रावण है, अर्थात् उसका श्रोत्रेन्द्रियसे ही जानना होता है। इसलिये पक्षधर्मत्व न होनेसे चाक्षुषत्व हेतु असिद्धनामक हेत्वाभास है। जिस हेतुकी साध्यसे विपरीतके साथ ही व्याप्ति अर्थात् रहना हो उसको विरुद्ध हेत्वाभास कहते हैं। जैसे कि शब्द नित्य है, क्योंकि कृत्रिम है। यहांपर कृत्रिमत्वरूप हेतुकी साध्यभूत नित्यत्वसे विपरीत अनित्यत्वके ही साथ व्याप्ति है। और यह सपक्षरूप आकाशादिकमें नहीं रहता इसलिये विरुद्धनामक हेत्वाभास यह कहा जाता है। अर्थात् जहांपर साध्यका निश्चय हो उसको सपक्ष कहते हैं। आकाशमें साध्यभूत नित्यताका

निश्चय है इसलिये वह सपक्ष है; परन्तु वहांपर कृत्रिमत्वरूप हेतु नहीं है, इसलिये सपक्षमें सत्ता न रहनेसे यह विरुद्धनामक हेत्वाभास होता है।

सव्यभिचारोऽनैकान्तिकः। यथा अनित्यः शब्दः, प्रमेयत्वादिति। प्रमेयत्वं हि हेतुः साध्यभूतमनित्यत्वं व्यभिचरति, गगनादौ विपक्षे नित्यत्वेनापि सहवृत्तेः। ततो विपक्षाद्व्यावृत्त्यभावादनैकान्तिकः। बाधितविषयः कालात्ययापदिष्टो, यथाऽग्निरनुष्णः, पदार्थत्वादिति। अत्र पदार्थत्वं हेतुः स्वविषयेऽनुष्णत्वे उष्णत्वग्राहकेण प्रत्यक्षेण बाधिते प्रवर्तमानोऽबाधितविषयत्वाभावात्कालात्ययापदिष्टः।

व्यभिचारसहित हेतुको अनैकान्तिक हेत्वाभास कहते हैं। अर्थात्—जो हेतु विवक्षित साध्यवाले सब स्थलोंमें मिलता हुआ साध्यके अभाववाले स्थलमें भी पाया जाय वह अनैकान्तिक नामका हेत्वाभास कहाता है। जैसे कि शब्द अनित्य है, क्योंकि प्रमेय है, अर्थात् किसी न किसीके ज्ञानका विषय है। यहांपर प्रमेयत्व हेतु साध्यभूत अनित्यत्वसे व्यभिचारी है, क्योंकि आकाशादिक विपक्षमें प्रमेयत्व हेतु तो रहता है, परन्तु साध्यभूत अनित्यत्व नहीं रहता। इसलिये विपक्षसे व्यावृत्तस्वरूप न होनेके कारण अनैकान्तिक हेत्वाभास है। जिस हेतुका विषय किसी प्रमाणसे बाधित हो उसको कालात्ययापदिष्ट कहते हैं। जैसे कि अग्नि उष्ण नहीं है, क्योंकि वह पदार्थ है। यहांपर पदार्थत्व हेतुका विषय जो अग्निका उष्ण न होना, वह उष्णत्वग्राही स्पार्शन प्रत्यक्षप्रमाणसे बाधित होता है। इसलिये अबाधितविषयत्वरूपके न होनेसे कालात्ययापदिष्ट हेत्वाभास है।

प्रतिसाधनप्रतिरुद्धो हेतुः प्रकरणसमः। यथा अनित्यः शब्दो नित्यधर्मरहितत्वादिति। अत्र हि नित्यधर्मरहितत्वा-

दिति हेतुः प्रतिसाधनेन प्रतिरुद्धः। किं तत्प्रतिसाधनमिति चेत्, नित्यः शब्दोऽनित्यधर्मरहितत्वादिति नित्यत्वसाधनम्। तथा चासत्प्रतिपक्षत्वाभावात् प्रकरणसमत्वं नित्यधर्मरहितत्वादिति हेतोः।

जो हेतु प्रतिसाधनसे प्रतिरुद्ध हो; अर्थात् साध्यसे विपरीत साधनेवाले दूसरे किसी विरुद्ध हेतुद्वारा जो हेतु अपने इष्ट साध्यको सिद्ध न कर सकै उसको प्रकरणसम कहते हैं। जैसे कि शब्द अनित्य है, क्योंकि उसमें नित्यपदार्थका धर्म (नित्यत्व) नहीं रहता। यहांपर 'नित्यके धर्मसे रहित होना' ऐसा जो हेतु, वह विरोधीसाधनसे रोका गया है। वह विरोधीसाधन क्या है? शब्द नित्य है, क्योंकि उसमें अनित्यत्व धर्म नहीं रहता इस-प्रकार नित्यत्वसाधक हेतु विरोधी है। इसलिये नित्यधर्मसे रहित होना, ऐसा जो हेतु वह असत्प्रतिपक्षत्वरूप हेतुस्वरूपके न रहनेसे प्रकरणसम हेत्वाभास है।

तस्मात्पाञ्चरूप्यं हेतोर्लक्षणमन्यतमाभावे हेत्वाभासत्वप्रसङ्गादिति सूक्तम्। हेतुलक्षणरहिता हेतुवदवभासमानाः खलु हेत्वाभासाः। पञ्चरूपान्यतमशून्यत्वाद्धेतुलक्षणरहितत्वं कतिपयरूपसम्पत्तेर्हेतुवदवभासमानत्वमिति वचनादिति। तदेतत्तदपि नैयायिकाभिमननमनुपपन्नं, कृत्तिकोदयस्य पक्षधर्मरहितस्यापि शकटोदयं प्रति हेतुत्वदर्शनात्पाञ्चरूप्यस्याव्याप्तेः।

इस लिये यह ठीक ही कहा कि पाञ्चरूप्य ही हेतुका लक्षण है। इनमेंसे एकके भी न रहनेसे वह हेतु हेत्वाभास हो जाता है। जिसमें हेतुका लक्षण तो घटित न हो परन्तु हेतुके समान मालूम पड़ै उसको हेत्वाभास कहते हैं। क्योंकि ऐसा कहा है कि "ये असिद्धादिक हेत्वाभास, हेतुके पांच रूपोंमेंसे किसी एक दोके न होनेसे हेतुके लक्षणसे रहित हैं और कति-

चय रूपोंसे युक्त होनेके कारण हेतुके समान मालूम होते हैं"। नैयायिकोंका यह सभी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि कृत्तिकोदयरूप हेतु, पक्षधर्मरूप न होनेपर भी शकटोदय साध्यका निश्चय कराता है। इसलिये हेतुके पाञ्चरूप्य लक्षणमें अव्याप्ति दोष आता है।

किं च केवलान्वयिकेवलव्यतिरेकिणोर्हेत्वोः पाञ्चरूप्याभावेपि गमकत्वं तैरेवाङ्गीक्रियते। तथा हि। ते मन्यन्ते, त्रिविधो हेतुः–अन्वयव्यतिरेकी, केवलान्वयी, केवलव्यतिरेकी चेति। तत्र पञ्चरूपोपपन्नोऽन्वयव्यतिरेकी, यथा शब्दोऽनित्यो भवितुमर्हति कृतकत्वात्। यद्यत्कृतकं तत्तदनित्यं, यथा घटः। यद्यदनित्यं न भवति तत्तत्कृतकं न भवति, यथाऽऽकाशम्। तथा चायं कृतकः, तस्मादनित्य एवेति। अत्र शब्दं पक्षीकृत्यानित्यत्वं साध्यते, तत्र कृतकत्वं हेतुः। तस्य पक्षीकृतशब्दधर्मत्वात्पक्षधर्मत्वमस्ति। सपक्षे घटादौ वर्तमानत्वात्, विपक्षे गगनादाववर्तमानत्वादन्वयव्यतिरेकित्वम्।

दूसरा दोष यह कि, केवलान्वयी तथा केवलव्यतिरेकी हेतुको पाञ्चरूप्यलक्षणसे रहित होनेपर भी स्वयं उन्होंने (नैयायिकोंने) साध्यका साधक माना है। अर्थात् उनका ऐसा सिद्धान्त है कि हेतुके तीन भेद हैं–अन्वयव्यतिरेकी, केवलान्वयी और केवलव्यतिरेकी। जिसमें हेतुके पांचों स्वरूप पाये जायँ उसको अन्वयव्यतिरेकी कहते हैं। जैसे कि शब्द अनित्य है, क्योंकि वह कृतक (कृत्रिम) है। जो जो कृतक होता है वह वह अनित्य होता है, जैसे कि घट। जो अनित्य नहीं होता वह कृतक भी नहीं होता, जैसे आकाश। शब्द भी कृतक है, इसलिये अनित्य ही है। यहांपर शब्दको पक्ष बनाकर कृतकत्व हेतुसे अनित्यताकी

सिद्धि करते हैं। यह कृतकत्व हेतु शब्दरूप पक्षमें रहता है इसलिये उसमें पक्षधर्मत्व है। घटादिक सपक्षमें रहता है (इसलिये सपक्षमें सत्ता भी है) और आकाशादिक विपक्षमें नहीं रहता (इसलिये विपक्षसे व्यावृत्ति भी है) इसलिये यह हेतु अन्वयव्यतिरेकी है।

पक्षसपक्षवृत्तिर्विपक्षवृत्तिरहितः केवलान्वयी। यथाऽदृष्टादयः कस्यचित्प्रत्यक्षा, अनुमेयत्वात्। यद्यदनुमेयं तत्तत्कस्यचित्प्रत्यक्षम्। यथाऽग्न्यादिरिति। अत्र 'अदृष्टादयः' पक्षः, कस्यचित्प्रत्यक्षत्वं साध्यम्, अनुमेयत्वं हेतुः, अग्न्याद्यन्वयदृष्टान्तः। अनुमेयत्वं हेतु पक्षीकृतेऽदृष्टादौ वर्तते, सपक्षभूतेऽग्न्यादौ वर्तते, ततः पक्षधर्मत्वं सपक्षे सत्त्वं चास्ति। विपक्षः पुनरत्र नास्त्येव, सर्वस्यापि पक्षसपक्षान्तर्भावात्। तस्माद्विपक्षाद्व्यावृत्तिर्नास्त्येव, व्यावृत्तेरवधिसापेक्षत्वादवधिभूतस्य च विपक्षस्याभावात्। शेषमन्वयव्यतिरेकिवद्द्रष्टव्यम्।

जो हेतु पक्ष और सपक्षमें रहै किन्तु विपक्षमें न रहै उसको केवलान्वयी कहते हैं। जैसे अदृष्टादिक किसीके प्रत्यक्ष हैं; क्योंकि अनुमेय हैं। जो जो अनुमेय होते हैं वे वे किसीके प्रत्यक्ष अवश्य होते हैं, जैसे अग्नि आदिक। यहांपर 'अदृष्टादिक' पक्ष है, किसी जीवको उसका प्रत्यक्ष होना साध्य है, अनुमेयत्व हेतु है और 'अग्न्यादि' दृष्टान्त है। अनुमेयत्व हेतु अदृष्टादिक पक्षमें और अग्न्यादिक सपक्षमें रहता है इसलिये उसमें पक्षधर्मत्व तथा सपक्षसत्त्व मिलता है। किन्तु विपक्ष यहांपर कोई नहीं है; क्योंकि सब पदार्थोंका पक्ष और सपक्षमें ही अन्तर्भाव होजाता है। इसलिये यहांपर विपक्षसे व्यावृत्ति होना संभव नहीं है। व्यावृत्ति अवधिकी अपेक्षा रखती है और अवधिभूत विपक्ष यहांपर कोई है ही नहीं। यही इस केवलान्वयी हेतुमें विशेषता है, शेष सब अन्वयव्यतिरेकीके समान है।

पक्षवृत्तिर्विपक्षव्यावृत्तः सपक्षरहितो हेतुः केवलव्यतिरेकी। यथा जीवच्छरीरं सात्मकं भवितुमर्हति प्राणादिमत्त्वात्। यद्यत्सात्मकं न भवति तत्तत्प्राणादिमन्न भवति, यथा लोष्ठमिति। अत्र जीवच्छरीरं पक्षः, सात्मकत्वं साध्यं, प्राणादिमत्त्वं हेतुः, लोष्ठादिर्व्यतिरेकिदृष्टान्तः। प्राणादिमत्त्वं हेतुः पक्षीकृते जीवच्छरीरे वर्तते। विपक्षाच्च लोष्ठादेर्व्यावर्तते। सपक्षः पुनरत्र नास्त्येव। सर्वस्यापि पक्षविपक्षान्तर्भावादिति। शेषं पूर्ववत्।

जो पक्षमें रहे और विपक्षसे व्यावृत्त हो किंतु जिसका सपक्ष न हो उस हेतुको केवलव्यतिरेकी कहते हैं। जैसे कि जीवितका शरीर सात्मक है; क्योंकि उसमें श्वासोच्छ्वास हैं। जो सात्मक नहीं होता वह श्वासादियुक्त भी नहीं होता, जैसे कि मिट्टीका ढेला। यहांपर जीवितका शरीर पक्ष है, सात्मकत्व साध्य है, श्वासोच्छ्वासादिका होना या प्राणादिमत्त्व हेतु है, मिट्टीका ढेला व्यतिरेकी दृष्टान्त है। यह प्राणादिमत्त्व हेतु जीवित शरीररूप पक्षमें रहता है, तथा मिट्टीके ढेलेरूप विपक्षसे व्यावृत्त है। सपक्ष इसका कोई है ही नहीं, क्योंकि सब चीज़ोंका पक्ष विपक्षमें ही अन्तर्भाव हो चुकता है। शेष सम्पूर्ण अन्वयव्यतिरेकीके समान समझना।

एवमेतेषां त्रयाणां हेतूनां मध्येऽन्वयव्यतिरेकिण एव पाञ्चरूप्यं, केवलान्वयिनो विपक्षव्यावृत्त्यभावात्, केवलव्यतिरेकिणः सपक्षसत्त्वाभावाच्च नैयायिकमतानुसारेणैव पाञ्चरूप्यव्यभिचारः। अन्यथानुपपत्तेस्तु सर्वहेतुव्याप्तत्वाद्धेतुलक्षणत्वमुचितम्। तदभावे हेतोः स्वसाध्यगमकत्वाघटनात्।

इस प्रकार उक्त तीनों ही हेतुओंमेंसे केवल अन्वयव्यतिरेकी

में ही 'पाञ्चरूप्य' हेतुलक्षण घटित होता है, औरोंमें नहीं; क्योंकि केवलान्वयीमें विपक्षव्यावृत्ति नहीं है और केवलव्यतिरेकीमें सपक्षसत्त्व नहीं है। इस प्रकार नैयायिकमतके अनुसार भी हेतुके पाञ्चरूप्यमय लक्षणमें व्यभिचार आता है। किन्तु अन्यथानुपपत्तिरूप हेतुका लक्षण लक्ष्यभूत सम्पूर्ण हेतुओंमें व्याप्त होकर रहता है इसलिये हेतुका वह लक्षण उचित है। क्योंकि अन्यथानुपपत्तिके न होनेसे हेतु साध्यका गमक कहीं भी नहीं होसकता।

यदुक्तमसिद्धादिदोषपञ्चकनिवारणाय क्रमेण पञ्चरूपाणीति तन्न, अन्यथानुपपत्तिमत्त्वेन निश्चितत्वस्यैवास्मदभिमतलक्षणस्य तन्निवारकत्वसिद्धेः। तथा हि, साध्यान्यथानुपपत्तिमत्त्वे सति निश्चयपथप्राप्तत्वं खलु हेतोर्लक्षणम्, साध्याविनाभावित्वेन निश्चितो हेतुरिति वचनात्। न चैतदसिद्धस्यास्ति, शब्दानित्यत्वसाधनायाभिप्रेतस्य चाक्षुषत्वादेः स्वरूपस्यैवाभावे कुतोन्यथानुपपत्तिमत्त्वेन निश्चयपथप्राप्तिः।

यह जो कहा था कि "असिद्धादि पांचों दोषोंके दूर करनेके लिये हेतुके पांचों रूपोंका क्रमसे निरूपण किया है" सो ठीक नहीं है; क्योंकि अन्यथानुपपत्तिस्वरूपद्वारा निश्चित होनेरूप हमारे माने हुए हेतुलक्षणसे ही उन असिद्धादि दोषोंका निवारण हो सकता है। वह किसतरहसे होसकता है सो दिखाते हैं। 'साध्यके विना अकेला न रहने'रूप जो अविनाभावका निश्चय होना वही हेतुका लक्षण है। क्योंकि ऐसा वचन है कि "जो साध्याविनाभावरूपसे निश्चित हो अर्थात् जिसका यह निश्चय हो कि यह साध्यके विना नहीं रहता उसको हेतु कहते हैं।" इस प्रकार असिद्ध हेत्वाभासका अन्यथानुपपत्तिरूपसे निश्चय नहीं हो सकता; क्योंकि शब्दका अनित्यत्व सिद्ध करनेके लिये वहांपर मानेहुए चाक्षुषत्व हेतुका

जब कोई स्वरूप ही नहीं है तब उसका अन्यथानुपपत्तिरूपसे निश्चय किस तरह हो सकता है?

ततः साध्यान्यथानुपपत्तिमत्त्वेन निश्चयपथप्राप्त्यभावादेवास्य हेत्वाभासत्वं, नतु पक्षधर्मत्वाभावात्, अपक्षधर्मस्यापि कृत्तिकोदयादेर्यथोक्तलक्षणसम्पत्तेरेव सद्धेतुत्वप्रतिपादनात्। विरुद्धादेस्तु तदभावः स्पष्ट एव। नहि विरुद्धस्य व्यभिचारिणो बाधितविषयस्य सत्प्रतिपक्षस्य वान्यथानुपपत्तिमत्त्वेन निश्चयपथप्राप्तिरस्ति। तस्माद्यस्यान्यथानुपपत्तिमत्त्वे सति योग्यदेशे निश्चयपथप्राप्तिरस्ति स एव सद्धेतुः, अपरस्तदाभास इति स्थितम्।

इसलिये, इस हेतुकी साध्यान्यथानुपपत्तिका निश्चय नहीं है अत एव यह हेत्वाभास है, न कि इसलिये कि इसमें पक्षधर्मताका अभाव है। क्योंकि 'कृत्तिकोदय' हेतुको पक्षमें न रहनेपर भी, उपर्युक्त अन्यथानुपपत्तिरूप लक्षणसे युक्त होनेके कारण ही सद्धेतु माना है। विरुद्धादि हेत्वाभासोंमें तो अन्यथानुपपत्तिका अभाव स्पष्ट ही है। विरुद्ध, व्यभिचारी, बाधितविषय या सत्प्रतिपक्ष इनमेंसे किसी भी हेत्वाभासमें अन्यथानुपपत्तिरूपसे निश्चय होना संभव नहीं है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जिसकी साध्यके साथ अन्यथानुपपत्ति सिद्ध होती हो और फिर साध्य सिद्ध करते हुए जिसका रहना किसी भी उचित स्थानमें निश्चित होता हो वह सच्चा हेतु है, और सब (इससे विरुद्ध) हेत्वाभास हैं।

किंच गर्भस्थो मैत्रतनयः श्यामो भवितुमर्हति, मैत्रतनयत्वात् सम्प्रतिपन्नमैत्रतनयवदित्यत्रापि त्रैरूप्यपाञ्चरूप्ययोर्बौद्धयौगाभिमतयोरतिव्याप्तेरलक्षणत्वम्। तथा हि, परिदृश्यमानेषु

पञ्चसु मैत्रपुत्रेषु श्यामतामुपलभ्य तद्गर्भगतमपि विवादापन्नं पक्षीकृत्य श्यामत्वसाधनाय प्रयुक्तो मैत्रतनयाख्यो हेतुराभास इति तावत्प्रसिद्धम् । अश्यामत्वस्यापि तत्र सम्भावितत्वात् । तत्सम्भावना च श्यामत्वं प्रति मैत्रतनयत्वस्यान्यथानुपपत्त्यभावात् । तदभावश्च सहक्रमभावनियमाभावात् ।

और भी यह एक दोष है कि, गर्भस्थ मैत्रपुत्र श्याम होगा, क्योंकि मैत्रका पुत्र है, जो जो मैत्रपुत्र हैं वे वे श्याम हैं, जैसे वर्तमानके मैत्रपुत्र । यहांपर (हेत्वाभासमें) भी बौद्ध और यौगोंके मानेहुए हेतुके त्रैरूप्य और पाञ्चरूप्य लक्षण घटित होते हैं इसलिये इस लक्षणमें अतिव्याप्ति दोष आता है । क्योंकि वर्तमानके पांचों मैत्रपुत्रोंमें श्यामताको देखकर विवादापन्न गर्भप्राप्त पुत्रको पक्ष बनाकर उसमें श्यामता सिद्ध करनेकेलिये कहाहुआ मैत्रतनयत्वरूप हेतु, हेतु नहीं है, किंतु हेत्वाभास है, यह बात प्रसिद्ध है। क्योंकि उसके श्याम न होनेकी भी सम्भावना है; यह भी क्योंकि श्यामत्वके प्रति मैत्रतनयत्वकी अन्यथानुपपत्ति नहीं हैं–अर्थात् यह नियम नहीं है कि श्यामत्वके विना मैत्रतनयत्व न हो अथवा जो जो मैत्रतनय हो वह वह श्याम ही हो यह नियम नहीं हो-सकता। यहांपर अन्यथानुपपत्तिका अभाव तो सहभाव या क्रमभावरूप नियमके न बननेसे ही मानना पड़ता है ।

यस्य हि धर्मस्य येन धर्मेण सहभावनियमः स तं गमयति, यथा शिंशपात्वस्य वृक्षत्वेन सहभावनियमोस्तीति शिंशपात्वहेतुर्वृक्षत्वं गमयति । यस्य येन क्रमभावनियमः स तं गमयति, यथा धूमस्याग्न्यनन्तरभावनियमोस्तीति धूमोग्निं गमयति। नहि मैत्रतनयत्वस्य हेतुत्वाभिमतस्य श्यामत्वेन साध्यत्वाभिमतेन सहभावः क्रमभावो वा नियमोस्ति, येन मैत्रतनयत्वं हेतुः श्यामत्वं साध्यं गमयेत् ।

जिस धर्मका जिस धर्मके साथ सहभाव नियम हो वह उसका साधक होता है। जैसे शिंशपात्वका वृक्षत्वके साथ यह नियम है कि शिंशपात्व वृक्षत्वके साथ ही रहता है, इसलिये शिंशपात्व हेतु वृक्षत्वका साधक होजाता है। इसी प्रकार जिसका जिसके साथ क्रमभावनियम हो वह उसका साधक होसकता है। जैसे यह नियम है कि धूम अग्निके अनन्तर उत्पन्न होता है इसलिये धूमका अग्निके साथ क्रमभाव नियम है, अत एव धूम अग्निका साधक होजाता है। परन्तु इस प्रकार मैत्रतनयत्वरूप हेतुका श्यामत्वरूप साध्यके साथ सहभाव या क्रमभावरूप नियम नहीं है, कि जिससे मैत्रतनयत्व हेतु श्यामत्व साध्यका साधक हो सकै।

यद्यपि सम्प्रतिपन्नमैत्रपुत्रेषु मैत्रतनयत्वश्यामत्वयोः सहभावोस्ति, तथापि नासौ नियतो, मैत्रतनयत्वमस्तु श्यामत्वं मास्तु इत्येवंरूपे विपक्षे बाधकाभावात्। विपक्षबाधकप्रमाणबलात्खलु हेतुसाध्ययोर्व्याप्तिनिश्चयः। व्याप्तिनिश्चयतः सहभावः क्रमभावो वा, सहक्रमभावनियमोऽविनाभाव इति वचनात्। विवादाध्यासितो वृक्षो भवितुमर्हति, शिंशपात्वात्। या या शिंशपा स स वृक्षः, यथा सम्प्रतिपन्न इति। अत्र हि हेतुरस्तु साध्यं मा भूदित्येतस्मिन् विपक्षे सामान्यविशेषभावभङ्गप्रसङ्गो बाधकः। वृक्षत्वं हि सामान्यं शिंशपात्वं तद्विशेषः। न हि विशेषः सामान्याभावे सम्भवति।

यद्यपि वर्तमान सभी मित्रके पुत्रोंमें मैत्रतनयत्व (हेतु) और श्यामत्व (साध्य) का सहभाव है; तथापि यह सर्वथा नियमित नहीं है; क्योंकि यदि मैत्रतनयत्व हो और वहांपर श्यामत्व न रहै तो इस प्रकारके विपक्षमें कोई बाधक प्रमाण नहीं है। विपक्षमें बाधक प्रमाणका बल मिलनेसे ही हेतु और साध्यमें व्याप्तिका

निश्चय होता है और व्याप्तिके निश्चयसे ही सहभाव या क्रमभाव निश्चित होता है; क्योंकि ऐसा कहा है कि "सहभाव या क्रमभावके नियमको ही अविनाभाव कहते हैं"। यह सामनेकी वस्तु वृक्ष है; क्योंकि यह शिंशपा है, जो जो शिंशपा होता है वह वह वृक्ष होता है, जैसे कि यह वृक्ष। यहांपर यदि हेतु रहै और साध्य न हो तो इस विपक्षमें सामान्यविशेषके नियमित सम्बन्धका टूट जाना ही बाधक प्रमाण है। वृक्षत्व सामान्य धर्म है और शिंशपात्व उसका विशेष है, सामान्यके अभावमें विशेष नहीं रह सकता।

न चैवं मैत्रतनयत्वमस्तु श्यामत्वं मास्त्वित्युक्ते किञ्चिद्बाधकमस्ति, तस्मान्मैत्रतनयत्वं हेत्वाभास एव। तस्य तावत्पक्षधर्मत्वमस्ति, पक्षीकृते गर्भस्थे तत्सद्भावात्। सपक्षेषु सम्प्रतिपन्नेषु तस्य विद्यमानत्वात्सपक्षे सत्त्वमप्यस्ति। विपक्षेभ्यः पुनरश्यामेभ्यश्चैत्रपुत्रेभ्यो व्यावर्तमानत्वाद्विपक्षाद्व्यावृत्तिरस्ति। विषयबाधाभावादबाधितविषयत्वमस्ति। नहि गर्भस्थस्य श्यामत्वं केनचिद्बाध्यते। असत्प्रतिपक्षत्वमप्यस्ति, प्रतिकूलसमबलप्रमाणाभावात्। इति पाञ्चरूप्यसम्पत्तिः। त्रैरूप्यं तु सहस्रे शतन्यायेन सुतरां सिद्धमेव।

परन्तु मैत्रतनयत्व रहै और श्यामत्व न रहै ऐसा विपरीत कहनेमें कोई बाधक प्रमाण नहीं है; इसलिये मैत्रतनयत्व हेत्वाभास ही है। परन्तु इसमें पक्षधर्मता है; क्योंकि गर्भप्राप्त मैत्रपुत्ररूप पक्षमें मैत्रतनयत्व हेतु रहता है। सपक्षमें सत्ता भी है; क्योंकि सपक्षभूत वर्तमानके सभी पुत्रोंमें वह रहता है। विपक्षसे व्यावृत्ति भी है; क्योंकि विपक्षभूत सभी मैत्रके पुत्रोंसे जिनमें कि कोई भी श्याम नहीं है, वह व्यावृत्त है। इसके विषयमें प्रत्यक्षादि प्रमाणसे कोई बाधा नहीं आती इसलिये अबा-

धित विषयत्व भी है; क्योंकि गर्भस्थित मैत्रपुत्रकी श्यामता किसी प्रमाणसे भी बाधित नहीं है । विरोधी समानबलवाले किसी भी प्रमाणके न होनेसे असत्प्रतिपक्षत्व भी है । इस प्रकार इस मैत्रतनयत्व हेतुमें पाञ्चरूप्यसम्पत्ति है, त्रैरूप्य तो हजारमें सौके न्यायसे (बहुतमें थोडेका अन्तर्भाव हो जाना, जैसे हजारमें सौका) सुतरां ही सिद्ध है।

ननु च न पाञ्चरूप्यमात्रं हेतोर्लक्षणम्। किं तर्हि? अन्यथानुपपत्त्युपलक्षणमिति चेत्तर्हि सैवैकान्तलक्षणमस्तु । तदभावे पाञ्चरूप्यसम्पत्तावपि मैत्रतनयत्वादौ न हेतुत्वम् । तत्सद्भावे पाञ्चरूप्याभावेऽपि कृत्तिकोदयादौ हेतुत्वमिति । तदुक्तम् "अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम् । नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम् ॥१॥" इति बौद्धान् प्रति। यौगान् प्रति तु "अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र किं तत्र पञ्चभिः। नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र किं तत्र पञ्चभिः ॥ १ ॥" इति ।

'केवल पाञ्चरूप्य ही हेतुका लक्षण नहीं है। तो क्या? अन्यथानुपपत्तिके साथ साथ पाञ्चरूप्य होना हेतुका लक्षण है' यह कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि जब अन्यथानुपपत्तिको मान लिया तो केवल उसीको लक्षण मानना चाहिये; क्योंकि पाञ्चरूप्यके रहनेपर भी केवल उसीके न रहनेसे मैत्रतनयत्व, हेतु नहीं रहता और उस (अन्यथानुपपत्ति) के रहनेपर पाञ्चरूप्य या त्रैरूप्यके न रहते हुए भी कृत्तिकोदय हेतु सच्चा हेतु माना जाता है। अत एव बौद्धोंके लिये ऐसा कहा है कि "जहांपर अन्यथानुपपत्ति है वहां त्रैरूप्य क्यों मानना चाहिये? और जहां अन्यथानुपपत्ति नहीं है वहां त्रैरूप्य माननेसे भी क्या फल?" इसी प्रकार यौगोंके प्रति भी कहा है कि "जहांपर अन्यथानुपपत्ति है वहां पाञ्चरूप्यसे क्या फल? और जहां अन्यथानुप्रपत्ति नहीं है वहां भी पाञ्चरूप्यसे क्या फल?"

सोयमन्यथानुपपत्तिनिश्चयैकलक्षणो हेतुः संक्षेपतो द्विविधः। विधिरूपः प्रतिषेधरूपश्चेति। विधिरूपोऽपि द्विविधो विधिसाधकः प्रतिषेधसाधकश्चेति। तत्राद्योऽनेकधा। तद्यथा कश्चित्कार्यरूपो, यथा पर्वतोऽयमग्निमान्धूमवत्त्वान्यथानुपपत्तेरित्यत्र धूमः। धूमो ह्यग्नेः कार्यभूतस्तदभावेऽनुपपद्यमानोऽग्निं गमयति। कश्चित् कारणरूपः यथा वृष्टिर्भविष्यति विशिष्टमेघान्यथानुपपत्तेरिति। अत्र मेघविशेषो हि वर्षस्य कारणं स्वकार्यभूतं वर्षं गमयति।

अन्यथानुपपत्तिपूर्वक निश्चय होना ही जिसका मुख्य लक्षण है उस हेतुके संक्षेपसे दो भेद हैं। एक विधिरूप दूसरा प्रतिषेधरूप। विधिरूपके भी दो भेद हैं—एक विधिसाधक दूसरा प्रतिषेधसाधक। विधिसाधकके भी अनेक भेद हैं। उनमेंसे कोई कार्यरूप है, जैसे पर्वत अग्निमान् है; क्योंकि नहीं तो धूम नहीं हो सकता था। यहांपर धूम अग्निका कार्यभूत है; क्योंकि वह अग्निके न रहते हुए नहीं होता। अत एव वह अग्निका ज्ञापक होता है। कोई कारणरूप होता है, जैसे यहांपर वृष्टि होगी; क्योंकि जहां वर्षा होनेवाली न हो वहां ऐसे अवश्य वर्षा होनेके सूचक मेघ नहीं होते। यहांपर वर्षाका कारणभूत मेघविशेष अपने कार्यरूप वर्षाका ज्ञापक होता है।

ननु कार्यं कारणानुमापकमस्तु कारणाभावे कार्यस्यानुपपत्तेः। कारणं तु कार्याभावेऽपि सम्भवति, यथा धूमाभावेऽपि सम्भवन् वह्निः सुप्रतीतः। अत एव न वह्निर्धूमं गमयति इति चेत् तन्न, उन्मीलितशक्तिकस्य कारणस्य कार्याव्यभिचारित्वेन कार्यं प्रति हेतुत्वाविरोधात्। कश्चिद्विशेषरूपो, यथा वृक्षोयं शिंशपात्वान्यथानुपपत्तेरिति। अत्र शिंशपा हि

वृक्षविशेषः सामान्यभूतं वृक्षं गमयति । नहि वृक्षाभावे वृक्षविशेषो घटते इति ।

(शङ्का)-कार्यसे तो कारणका अनुमान हो सकता है; क्योंकि कारणके अभावमें कार्य कभी और कहीं भी नहीं रहता। परन्तु कारणसे कार्यका अनुमान नहीं हो सकता; क्योंकि कारण कार्यके अभावमें भी रहता है । जैसे अग्नि धूमके अभावमें भी रहती है । अत एव वह धूमका अनुमान नहीं करा सकती। अर्थात् जैसे अग्निसे धूमका अनुमान नहीं होता उसी तरह किसी भी कारणसे कार्यका अनुमान नहीं हो सकता; क्योंकि कार्यके अभावमें भी कारण रहता है । (समाधान)-यह शङ्का ठीक नहीं है; क्योंकि जिस कारणकी शक्ति इस प्रकार प्रगट है कि इसके पीछे अवश्य कार्यकी उत्पत्ति होगी वह कारण भी कार्यका अनुमापक होता है; क्योंकि उसका कार्यके साथ व्यभिचार नहीं है[1] ।

कोई विशेषरूप हेतु होता है जैसे कि यह वृक्ष है; क्योंकि अन्यथा शिंशपा[2] नहीं हो सकता । यहांपर वृक्षत्व विशेषका जो शिंशपात्वरूप हेतु वह वृक्षत्वसामान्यका अनुमान कराता है; क्योंकि सामान्य वृक्षके न रहनेपर वृक्षविशेष नहीं रह सकता।

कश्चित्पूर्वचरो, यथा उदेष्यति शकटं कृत्तिकोदयान्यथानुपपत्तेरित्यत्र कृत्तिकोदयः । कृत्तिकोदयानन्तरं मुहूर्तान्ते नियमेन शकटोदयो जायते, इति कृत्तिकोदयः पूर्वचरो हेतुः शकटोदयं गमयति । कश्चिदुत्तरचरो, यथा उदगाद्भरणी प्राक्कृत्तिकोदयान्यथानुपपत्तेरित्यत्र कृत्तिकोदयः । कृत्तिकोदयो हि भरण्युदयोत्तरचरस्तं गमयति । कश्चित्सहचरो,

१ जैसे वृक्षको देखकर छायाका अनुमान होता है । वृक्ष छायाका कारण होकर भी छायाका अनुमापक होता है । २ सीसम ।

यथा मातुलिङ्गं रूपवद्भवितुमर्हति रसवत्त्वान्यथानुपपत्तेरि-त्यत्र रसः। रसो नियमेन रूपसहचरितस्तदभावेऽनुपपद्यमा-नस्तं गमयति।

कोई पूर्वचर होता है, जैसे आगे रोहिणीका उदय होगा; क्योंकि नहीं तो वर्तमानमें कृत्तिकाका उदय नहीं हो सकता, यहांपर कृत्तिकाका उदय। कृत्तिकोदयसे एक मुहूर्तके अनन्तर रोहिणीका उदय नियमसे होता है इसलिये पूर्वमें भी रहनेवाले कृत्तिकोदयरूप हेतुसे रोहिणीके उदयरूप साध्यका ज्ञान होता है।

कोई हेतु उत्तरचर होता है, जैसे भरणीका उदय हो चुका; क्योंकि वर्तमानमें कृत्तिकाका उदय है, यहांपर कृत्तिकाका उदय। भरणीके उदयसे पीछे होनेवाला यह कृत्तिकाका उदय अपनेसे पूर्वमें होनेवाले भरणीके उदयका ज्ञापक है।

कोई हेतु सहचर होता है, जैसे बैंगनमें रूप अवश्य है; क्योंकि नहीं तो रस नहीं रह सकता, यहांपर रस। यह रस नियमसे रूपके साथ ही रहता है, उसके अभावमें नहीं। अत एव वह (रस) रूपका ज्ञापक है।

एतेषूदाहरणेषु भावरूपानेवाग्न्यादीन्साधयन्तो धूमादयो हेतवो भावरूपा एवेति विधिसाधकविधिरूपाः। एत एवावि-रुद्धोपलब्धय इत्युच्यन्ते। एवं विधिरूपस्य हेतोर्विधिसाध-काख्य आद्यो भेद उदाहृतः।

उक्त सम्पूर्ण उदाहरणोंमें धूमादिक हेतु स्वयंभावरूप हैं और भावरूप ही अग्नि आदिकी सिद्धि करते हैं। अत एव इनको विधिसाधक विधिरूप तथा अविरुद्धोपलब्धि भी कहते हैं। इस प्रकार विधिरूप हेतुके विधिसाधक नामा प्रथम भेदका निरूपण उदाहरणसहित हो चुका।

द्वितीयस्तु निषेधसाधकाख्यः। विरुद्धोपलब्धिरिति तस्यैव नामान्तरम्। स यथा, नास्य मिथ्यात्वमास्तिक्यान्यथानुपपत्तेरित्यत्रास्तिक्यम्। आस्तिक्यं हि सर्वज्ञवीतरागप्रणीतजीवादितत्त्वार्थरुचिलक्षणम्। तन्मिथ्यात्ववतो न सम्भवतीति मिथ्यात्वाभावं साधयति। यथा वा, नास्ति वस्तुनि सर्वथैकान्तः, अनेकान्तात्मकत्वान्यथानुपपत्तेरित्यत्रानेकान्तात्मकत्वम्। अनेकान्तात्मकत्वं हि वस्तुन्यबाधितप्रतीतिविषयत्वेन प्रतिभासमानं सौगतादिपरिकल्पितसर्वथैकान्ताभावं साधयत्येव।

दूसरे भेदका नाम निषेधसाधक है, जिसको कि विरुद्धोपलब्धि नामसे भी कहते हैं। जैसे इस प्राणीके मिथ्यात्व नहीं है; क्योंकि यदि मिथ्यात्व होता तो आस्तिक्य नहीं हो सकता था। यहांपर आस्तिक्य हेतु निषेधसाधक है। सर्वज्ञ वीतरागदेवके द्वारा प्रणीत जीवादिक तत्वोंमें रुचिके होनेको आस्तिक्य कहते हैं। यह आस्तिक्य मिथ्यादृष्टिमें नहीं रह सकता, इसलिये मिथ्यात्वके अभावको सिद्ध करता है।

अथवा वस्तु सर्वथा एकान्तस्वरूप नहीं है; क्योंकि यदि सर्वथा एकान्तस्वरूप ही हो तो अनेकान्तात्मकता नहीं वन सकती। यहांपर अनेकान्तात्मकता हेतु निषेधसाधक है। निर्बाध सम्यग्ज्ञानका विषय होनेसे वस्तुमें सुप्रसिद्ध होता हुआ यह अनेकान्तात्मकत्वहेतु, बौद्धादिकोंके द्वारा कल्पित किये गये सर्वथा एकान्तके अभावको सिद्ध करता है।

ननु किमिदमनेकान्तात्मकत्वं? यद्बलाद्वस्तुनि सर्वथैकान्ताभावः साध्यते इति चेदुच्यते। सर्वस्मिन्नपि जीवादिवस्तुनि भावाभावरूपत्वमेकानेकरूपत्वं नित्यानित्यरूपत्वमित्येवमादि-

कमनेकान्तात्मकत्वम् । एवं विधिरूपो हेतुर्दर्शितः । प्रतिषेधरूपोपि हेतुर्द्विविधो, विधिसाधकः प्रतिषेधसाधकश्चेति । तत्राद्यो यथा, अस्त्यत्र प्राणिनि सम्यक्त्वं विपरीताभिनिवेशाभावात् । अत्र विपरीताभिनिवेशाभावः प्रतिषेधरूपः सम्यक्त्वसद्भावं साधयति इति प्रतिषेधरूपो विधिसाधको हेतुः ।

(शङ्का) वह वस्तुकी अनेकान्तात्मकता क्या है कि जिसके बलसे सर्वथैकान्तके अभावकी सिद्धि करते हो? (समाधान) —सम्पूर्ण जीवादिक पदार्थोंमें भावरूपता अभावरूपता, एकरूपता अनेकरूपता, नित्यरूपता अनित्यरूपता इत्यादि अनेक धर्मोंके रहनेको अनेकान्तात्मकता कहते हैं । इस प्रकार विधिरूप हेतुका वर्णन किया ।

प्रतिषेधरूप हेतु भी दो प्रकारका है; एक विधिसाधक दूसरा प्रतिषेधसाधक । उसमेंसे पहला–जैसे, इस प्राणीके सम्यक्त्व है; क्योंकि इसको विपरीत दुराग्रह नहीं है । यहांपर विपरीत दुराग्रहका न होना प्रतिषेधरूप हेतु है और वह सम्यक्त्वके सद्भावको सिद्ध करता है इसलिये इस हेतुको प्रतिषेधरूप विधिसाधक कहते हैं ।

द्वितीयो यथा, नास्त्यत्र धूमः अग्न्यनुपलब्धेरिति । अत्र ह्यग्न्यभावः प्रतिषेधरूपो धूमाभावं प्रतिषेधरूपमेव साधयतीति प्रतिषेधरूपप्रतिषेधसाधको हेतुः । तदेवं विधिप्रतिषेधरूपतया द्विविधस्य हेतोः कतिचिदवान्तरभेदा उदाहृताः । विस्तरतस्तु परीक्षामुखतः प्रतिपत्तव्याः । इत्थमुक्तलक्षणा हेतवः साध्यं गमयन्ति, नान्ये, हेत्वाभासत्वात् ।

दूसरा प्रतिषेधसाधक है, जैसे यहांपर धूम नहीं है क्योंकि अग्नि नहीं दीखती है । यहांपर अग्न्यभाव हेतु अभावरूप है और

वह अभावरूप ही धूमाभाव साध्यको सिद्ध करता है, इसलिये इसको प्रतिषेधरूप प्रतिषेधसाधक हेतु कहते हैं। इस प्रकार विधिरूप तथा प्रतिषेधरूपके भेदसे दो भेदरूप हेतुके थोड़ेसे अवान्तर भेदोंका उदाहरणपूर्वक निरूपण किया। यदि अधिक जाननेकी इच्छा हो तो परीक्षामुखसे समझना। इस प्रकार जिनका लक्षण पहले कह चुके हैं, वे ही हेतु साध्यकी सिद्धि करसकते हैं, और नहीं; क्योंकि उनसे विपरीत बाकीके सभी हेत्वाभास हैं।

के ते हेत्वाभासा इति चेदुच्यन्ते। हेतुलक्षणरहिता हेतुवदवभासमाना हेत्वाभासाः। ते चतुर्विधाः असिद्धविरुद्धानैकान्तिकाकिञ्चित्करभेदात्। तत्रानिश्चयपथप्राप्तोऽसिद्धः। अनिश्चयपथप्राप्तिश्च हेतोः स्वरूपाभावनिश्चयात्तत्स्वरूपसन्देहाच्च। स्वरूपाभावनिश्चये स्वरूपासिद्धः। स्वरूपसन्देहे सन्दिग्धासिद्धः। आद्यो यथा, परिणामी शब्दश्चाक्षुषत्वादिति। शब्दस्य हि श्रावणत्वाच्चाक्षुषत्वाभावो निश्चित इति स्वरूपासिद्धश्चाक्षुषत्वहेतुः। द्वितीयो यथा, धूमवाष्पादिविवेकानिश्चये कश्चिदाह अग्निमानयं प्रदेशो धूमवत्त्वादिति। अत्र हि धूमवत्त्वं हेतुः सन्दिग्धासिद्धस्तत्स्वरूपे सन्देहात्।

वे हेत्वाभास कोनसे हैं? इसका उत्तर आगे बताते हैं। जिनमें हेतुका लक्षण तो घटित न हो किन्तु जो हेतुके समान मालूम पड़ें उनको हेत्वाभास कहते हैं। उनके चार भेद हैं-असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक, अकिञ्चित्कर। जो निश्चयके मार्गपर आरूढ न हो अर्थात् जिसका निश्चय न हो उसको असिद्ध कहते हैं। हेतुका अनिश्चय दो कारणोंसे होता है, उसके स्वरूपके अभावका निश्चय होनेसे अथवा उस (हेतु)के स्वरूपमें सन्देह होनेसे। जिस हेतुके स्वरूपके अभावका निश्चय हो उसको स्वरूपासिद्ध

कहते हैं, और जिसके स्वरूपमें सन्देह हो उसको सन्दिग्धासिद्ध कहते हैं। जैसे शब्द परिणामी है; क्योंकि वह चक्षुरिन्द्रियका विषय है। यहांपर शब्दको श्रोत्रेन्द्रियका विषय होनेसे उसमें चाक्षुषत्वके अभावका निश्चय है। अत एव यह चाक्षुषत्व हेतु असिद्ध हेत्वाभासका पहला भेद स्वरूपासिद्ध है। दूसरा भेद सन्दिग्धासिद्ध है, जैसे धूम और वाष्पके भेदका निश्चय न होनेपर कोई कहता है कि यहांपर अग्नि है; क्योंकि यहांपर धूम है। इस अनुमानमें धूम हेतु सन्दिग्धासिद्ध है; क्योंकि उसके स्वरूपमें यह सन्देह है कि यह धूम है अथवा वाष्प।

साध्यविपरीतव्याप्तो विरुद्धः। यथाऽपरिणामी शब्दः कृतकत्वात्। कृतकत्वं ह्यपरिणामित्वविरोधिना परिणामित्वेन व्याप्तम्। पक्षसपक्षविपक्षवृत्तिरनैकान्तिकः। स द्विविधो, निश्चितविपक्षवृत्तिकः शङ्कितविपक्षवृत्तिकश्चेति। तत्राद्यो यथा, धूमवानयं प्रदेशोऽग्निमत्त्वादिति। अत्राग्निमत्त्वं हेतुः पक्षीकृते सन्दिह्यमानधूमे पुरोवर्तिनि प्रदेशे वर्तते, सपक्षे धूमवति महानसे च वर्तते। विपक्षे धूमरहितत्वेन निश्चितेऽङ्गारावस्थापन्नाग्निमति प्रदेशे वर्तते। इति निश्चयान्निश्चितविपक्षवृत्तिकः।

जिस हेतुकी साध्यसे विपरीतके साथ व्याप्ति हो उसको विरुद्ध कहते हैं। जैसे शब्द अपरिणामी है; क्योंकि वह कृत्रिम है। यहांपर कृत्रिमत्व हेतुकी साध्यभूत अपरिणामित्वके साथ व्याप्ति नहीं है किन्तु उसके विरोधी परिणामित्वके साथ उसकी व्याप्ति है। इसलिये यह हेतु विरुद्ध हेत्वाभास है।

जो हेतु पक्ष सपक्ष विपक्ष तीनोंमें रहै उसे अनैकांतिक हेत्वाभास कहते हैं। उसके दो भेद हैं—एक निश्चितविपक्षवृत्ति अर्थात् विपक्षमें जिसका रहना निश्चित हो, दूसरा शङ्कितविप-

क्षवृत्ति अर्थात् जिसका विपक्षमें रहना सन्दिग्ध हो । जैसे यहांपर धूम है; क्योंकि यहांपर अग्नि है । इस अनुमानमें अग्निरूप हेतु पहला अनैकान्तिक हेत्वाभास है; क्योंकि वह पक्षभूत सामनेके प्रदेशमें भी रहता है जहांपर यह सन्देह है कि यहां धूम है या नहीं । एवं सपक्षभूत धूमसहित महानसमें भी रहता है । इसीप्रकार अङ्गार अवस्थाको प्राप्त अग्निसे युक्त विपक्षभूत स्थानमें भी रहता है, जहांपर यह निश्चय है कि यहां धूम नहीं रहता । इस लिये (विपक्षमें रहनेका निश्चय होनेसे) यह हेतु निश्चितविपक्षवृत्तिनामक अनैकान्तिक हेत्वाभास है ।

द्वितीयो यथा, गर्भस्थो मैत्रतनयः श्यामो भवितुमर्हति मैत्रतनयत्वादितरतनयवदिति। अत्र हि मैत्रतनयत्वं हेतुः पक्षीकृते गर्भस्थे वर्तते, सपक्षे इतरतत्पुत्रे वर्तते, विपक्षे अश्यामे वर्तते । नापीति शङ्काया अनिवृत्तेः शङ्कितविपक्षवृत्तिकः । अपरमपि शङ्कितविपक्षवृत्तिकस्योदाहरणम् । अर्हन् सर्वज्ञो न भवति वक्तृत्वाद्रथ्यापुरुषवदिति । वक्तृत्वस्य हि हेतोः पक्षीकृतेऽर्हति, सपक्षे रथ्यापुरुषे यथा वृत्तिरस्ति तथा विपक्षे सर्वज्ञेपि वृत्तिः सम्भाव्यते, वक्तृत्वज्ञातृत्वयोरविरोधात् । यद्धि येन सह विरोधि तत्खलु तद्वति न वर्तते । नच वचनज्ञानयोर्लोके विरोधोऽस्ति, प्रत्युत ज्ञानवत एव वचनसौष्ठवं स्पष्टं दृष्टम् । ततो ज्ञानोत्कर्षवति सर्वज्ञे वचनोत्कर्षे कानुपपत्तिरिति ।

दूसरे शङ्कितविपक्षवृत्ति अनैकान्तिकका उदाहरण देते हैं। जैसे, मैत्रका गर्भस्थित पुत्र दूसरे मैत्र पुत्रोंकी तरह श्याम है; क्योंकि वह मैत्रका पुत्र है । यहांपर मैत्रका पुत्रपना हेतु, पक्षीभूत

गर्भस्थ पुत्रमें तथा सपक्ष दूसरे पुत्रोंमें रहता है । परन्तु जो श्याम नहीं हैं उन पुत्रोंमें भी यह हेतु रहता है या नहीं इस शङ्काका निवारण नहीं होता। अर्थात् जिस प्रकार यह निश्चय है कि यह हेतु पक्ष और सपक्षमें रहता है, उस प्रकार यह निश्चय नहीं है कि यह हेतु विपक्षमें नहीं ही रहता है । इसलिये यह हेतु शङ्कितविपक्षवृत्ति है । इस दूसरे भेदका दूसरा उदाहरण यह भी है कि अर्हन्त सर्वज्ञ नहीं हैं; क्योंकि वे वक्ता हैं। जो वक्ता होता है वह सर्वज्ञ नहीं होता। जैसे, मार्गमें चलनेवाला साधारण मनुष्य। यहांपर वक्तृत्व हेतु अर्हन्तरूप पक्षमें तथा मार्गमें चलनेवाले सपक्षरूप पुरुषमें रहता है । उसी प्रकार सर्वज्ञरूप विपक्षमें भी उसके रहनेकी सम्भावना है; क्योंकि वक्तृत्व और ज्ञातृत्वमें कोई विरोध नहीं है। जिसका जिसके साथ विरोध होता है वह वहांपर नहीं रहता । वचन और ज्ञानमें कोई भी विरोध लोकमें दीखता नहीं है, प्रत्युत जो अधिक ज्ञानवान् है उसके वचन स्पष्ट सुन्दर देखनेमें आते हैं। इसलिये अनन्त ज्ञानके धारक सर्वज्ञमें यदि वचनका भी उत्कर्ष रहे तो कोई भी बाधा नहीं है । इसलिये यह वक्तृत्व हेतु शङ्कितविपक्षवृत्ति है।

अप्रयोजको हेतुरकिञ्चित्करः। स द्विविधः, सिद्धसाधनो बाधितविषयश्च। तत्राद्यो यथा, शब्दः श्रावणो भवितुमर्हति शब्दत्वादिति । अत्र श्रावणत्वस्य साध्यस्य शब्दनिष्ठत्वेन सिद्धत्वाद्धेतुरकिञ्चित्करः । बाधितविषयस्त्वनेकधा। कश्चित्प्रत्यक्षबाधितविषयः । यथा, अनुष्णोऽग्निर्द्रव्यत्वादित्यत्र द्रव्यत्वहेतुः । तस्य विषयत्वेनाभिमतमनुष्णत्वमुष्णत्वग्राहकेण स्पार्शनप्रत्यक्षेण बाधितम् । ततः किञ्चिदपि कर्तुमशक्यत्वादकिञ्चित्करो द्रव्यत्वहेतुः । कश्चित्पुनरनुमानबा-

धितविषयः। यथा, अपरिणामी शब्दोऽकृतकत्वादिति। अत्र परिणामी शब्दः प्रमेयत्वादित्यनुमानेन बाधितविषयत्वम्।

जिस हेतुसे कोई प्रयोजन सिद्ध न हो उसको अकिञ्चित्कर कहते हैं। उसके दो भेद हैं, एक सिद्धसाधन दूसरा बाधित-विषय। जिसका साध्य दूसरे प्रमाणसे सिद्ध हो गया हो, उसको सिद्धसाधन कहते हैं। जैसे, शब्द श्रोत्रेन्द्रियका विषय है; क्योंकि वह शब्द है। यहांपर श्रोत्रेन्द्रियका विषय होनेरूप जो साध्य उसका शब्दमें रहना स्वयंसिद्ध है। इसीलिये उसके सिद्ध करनेके लिये बोलाहुआ शब्दत्व हेतु अकिञ्चित्कर है। जिसका विषय किसी प्रमाणसे बाधित हो उसको बाधितविषय कहते हैं। उसके अनेक भेद हैं। कोई प्रत्यक्षबाधितविषय होता है। जैसे, अग्नि उष्ण नहीं है; क्योंकि वह द्रव्य है। यहांपर द्रव्यत्वहेतुका विषय उष्णताका न होना, उष्णताको विषय करनेवाले स्पर्शन प्रत्यक्षसे बाधित होता है। इस लिये यह द्रव्यत्वहेतु प्रत्यक्ष-बाधितविषय है और कुछ भी नहीं कर सकता, इसलिये अकिञ्चित्कर है। कोई अनुमानसे बाधितविषय होता है। जैसे शब्द अपरिणामी है; क्योंकि वह अकृत्रिम है। यहांपर अकृत्रिमत्व हेतुका विषय इस अनुमानसे बाधित होता है, कि शब्द परिणामी है; क्योंकि वह प्रमेय है। इसलिये यह कृत्रिमत्वहेतु अनुमानसे बाधितविषय है, और कुछ भी न कर सकनेके कारण अकिञ्चित्कर है।

कश्चिदागमबाधितविषयः। यथा, प्रेत्यासुखप्रदो धर्मः पुरुषाश्रितत्वादधर्मवदिति। अत्र धर्मः सुखप्रद इत्यागमः। तेन बाधितविषयत्वं हेतोः। कश्चित्स्ववचनबाधितविषयः। यथा, मे माता वन्ध्या पुरुषसंयोगेऽप्यगर्भत्वात् प्रसिद्धवन्ध्या-

वत् । एवमादयोऽप्यकिञ्चित्करविशेषाः स्वयमूह्याः । तदेवं हेतुप्रसङ्गाद्धेत्वाभासा अवभासिताः । ननु व्युत्पन्नं प्रति यद्यपि प्रतिज्ञाहेतुभ्यामेव पर्याप्तम् । तथापि बालबोधार्थमुदाहरणादिकमभ्युपगतमाचार्यैः । उदाहरणं च सम्यग्दृष्टान्तवचनम् । कोयं दृष्टान्तो नामेति चेदुच्यते ।

कोई आगमबाधितविषय होता है जिसका कि विषय आगमसे बाधित होता हो । जैसे, धर्म दुःखका देनेवाला है; क्योंकि वह पुरुषाश्रित है, जो जो पुरुषाश्रित होता है वह दुःखका कारण होता है जैसे अधर्म । यहांपर पुरुषाश्रितत्व हेतुका विषय, 'धर्म सुखका देनेवाला है' इस आगमसे बाधित होता है । कोई स्ववचनबाधितविषय होता है, जैसे मेरी माता वन्ध्या है; क्योंकि पुरुषका संयोग होनेपर भी प्रसिद्ध वन्ध्याओंकी तरह उसको गर्भ नहीं रहता । इसी प्रकार अकिञ्चित्कर हेत्वाभासके और भी अनेक भेद हैं, उनका स्वयं विचार कर लेना । इस प्रकार हेतुओंके प्रसंगवश हेत्वाभासोंका निरूपण भी किया । (प्रश्न)-यद्यपि व्युत्पन्नका प्रतिज्ञा और हेतु इन दोसे ही काम चल सकता है तथापि बालबोधके लिये आचार्योंने उदाहरणादिकोंको भी माना है । उनमेंसे उदाहरण तो समीचीन दृष्टान्तके कहनेको कहते हैं । इसलिये यह बतलाइये कि दृष्टान्त किसको कहते हैं ? (उत्तर):—

व्याप्तिसम्प्रतिपत्तिप्रदेशो दृष्टान्तः । व्याप्तिर्हि साध्ये वह्न्यादौ सत्येव साधनं धूमादिरस्ति, असति तु नास्तीति साध्यसाधननियतता साहचर्यलक्षणा । एनामेव साध्यं विना साधनस्याभावादविनाभावमिति च व्यपदिशन्ति । तस्याः सम्प्रतिपत्तिर्नाम वादिप्रतिवादिनोर्बुद्धिसाम्यम् । सैषा यत्र सम्भवति स सम्प्रतिपत्तिप्रदेशो महानसादिर्ह्रदादिश्च, तत्रैव

धूमादौ सति नियमेनाग्न्यादिरस्त्यग्न्याद्यभावे नियमेन धूमादिर्नास्तीति सम्प्रतिपत्तिसम्भवात् ।

जहांपर व्याप्तिकी सम्प्रतिपत्ति हो उसको दृष्टान्त कहते हैं। अर्थात् जहां पर वादी और प्रतिवादी दोनों ही निर्विवाद होकर व्याप्तिको स्वीकार करें उसको दृष्टान्त कहते हैं। अग्नि आदि साध्यके रहनेपर ही धूमादिक साधन रहते हैं और उसके न रहनेपर नहीं रहते, इस प्रकार साध्य और साधनके नियत साहचर्यको व्याप्ति कहते हैं। साध्यके विना साधन नहीं रहता इसलिये इसको अविनाभाव भी कहते हैं। ऐसे विषयमें वादी और प्रतिवादी इन दोनोंकी बुद्धिकी समानता हो जानेको सम्प्रतिपत्ति कहते हैं। यह सम्प्रतिपत्ति जहांपर हो उसको सम्प्रतिपत्तिप्रदेश अथवा दृष्टान्त कहते हैं। जैसे महानस अथवा महाह्रद। क्योंकि यहींपर वादी तथा प्रतिवादीको यह निश्चय होसकता है कि धूमादिके होनेपर नियमसे अग्निआदि होते हैं और अग्नि आदिके न रहनेपर धूमादिक कभी नहीं रहते।

तत्र महानसादिरन्वयदृष्टान्तः, अत्र साध्यसाधनयोर्भावरूपान्वयसम्प्रतिपत्तिसम्भवात् । ह्रदादिस्तु व्यतिरेकदृष्टान्तः, अत्र साध्यसाधनयोरभावरूपव्यतिरेकसम्प्रतिपत्तिसम्भवात्। दृष्टान्तौ चैतौ, दृष्टावन्तौ धर्मौ साध्यसाधनरूपौ यत्र स दृष्टान्त इत्यर्थानुवृत्तेः। उक्तलक्षणस्यास्य दृष्टान्तस्य यत्सम्यग्वचनं तदुदाहरणम्। न च वचनमात्रमयं दृष्टान्त इति किन्तु दृष्टान्तत्वेन वचनम्। तद्यथा, यो यो धूमवानसावसावग्निमान्, यथा महानस इति । यत्राग्निर्नास्ति तत्र धूमोऽपि नास्ति, यथा महाह्रद इति च। एवंविधेनैव वचनेन दृष्टान्तस्य दृष्टान्तत्वेन प्रतिपादनसम्भवात् ।

इन दोनोंमेंसे महानसादिकको अन्वयदृष्टान्त कहते हैं; क्योंकि यहांपर साध्य और साधनमें भावरूप एकके रहनेसे दूसरेके रहनेरूप अनुगमकी सम्प्रतिपत्ति दिखाई गई है। ह्रदादिक व्यतिरेकी दृष्टान्त हैं; क्योंकि यहांपर साध्य और साधनमें अभावरूप व्यतिरेककी सम्प्रतिपत्ति दिखाई गई है। ये दृष्टान्त यों हैं कि अन्त अर्थात् साध्यसाधनरूप धर्म निषेधरूपसे या विधिरूपसे दीखते हों उसको दृष्टान्त कहते हैं। ऐसा दृष्टान्त शब्दका अर्थ यहांपर संघटित होता है। इस उक्तलक्षण दृष्टान्तके समीचीन वचनको उदाहरण कहते हैं। केवल वचनको ही दृष्टान्त नहीं कहते किन्तु उसका जो दृष्टान्तपनेसे प्रयोग किया जाता है, उसको दृष्टान्त कहते हैं। जैसे जो जो धूमवान् है वह अग्निमान् है, जैसे महानस। जहांपर अग्नि नहीं होती, वहांपर धूम भी नहीं होता। जैसे, महाह्रदमें। क्योंकि इसी प्रकारके वचनोंके द्वारा दृष्टान्तका दृष्टान्तपनेसे प्रतिपादन हो सकता है।

उदाहरणलक्षणरहित उदाहरणवदवभासमान उदाहरणाभासः। उदाहरणलक्षणराहित्यं च द्वेधा सम्भवति, दृष्टान्तस्यासम्यग्वचनेनादृष्टान्तस्य सम्यग्वचनेन वा। तत्राद्यं यथा, यो यो वह्निमान् स स धूमवान्, यथा महानस इति, यत्र यत्र धूमो नास्ति तत्र तत्र अग्निर्नास्ति, यथा महाह्रद इति च व्याप्यव्यापकयोर्वैपरीत्येन कथनम्।

जो उदाहरणके लक्षणसे तो रहित हो किन्तु उदाहरणके समान मालूम पड़े उसको उदाहरणाभास कहते हैं। उदाहरणके लक्षणका न रहना दो तरहसे सम्भव है। एक तो सच्चे दृष्टान्तके उलटे कथनसे और दूसरे खोटे दृष्टान्तके समीचीन कथनसे। उसमेंसे प्रथम भेद-जो जो वह्निमान् होता है वह वह धूमवान् भी होता है, जैसे महानस। जहां जहां धूम नहीं होता

वहां वहां अग्नि भी नहीं होती, जैसे कि महाह्रदमें। इस प्रकारसे यहां व्याप्य और व्यापकका विपरीतरूपसे कथन किया गया है।

ननु किमिदं व्याप्यं व्यापकं नामेति चेदुच्यते। साहचर्यनियमरूपां व्याप्तिक्रियां प्रति यत्कर्म तद्व्याप्यम्। विपूर्वादापेः कर्मणि ण्यद्विधानाद्व्याप्यमिति सिद्धत्वात्। तत्तु व्याप्यं धूमादि। एनामेव व्याप्तिक्रियां प्रति यत्कर्तृ तद्व्यापकम्। व्यापेः कर्तरि ण्वुलि सति व्यापकमिति सिद्धेः। एवं सति धूममग्निर्व्याप्नोति, यत्र धूमो वर्तते तत्र नियमेनाग्निर्वर्तते इति यावत्सर्वत्र धूमवति नियमेनाग्निदर्शनात्। धूमस्तु न तथाग्निं व्याप्नोति, तस्याङ्गारावस्थस्य धूमं विनापि वर्तमानत्वात्। यत्राग्निर्वर्तते तत्र धूमोपि नियमेन वर्तते इत्यसम्भवात्।

(प्रश्न)–व्याप्य किसको कहते हैं और व्यापक किसको कहते हैं? (उत्तर)–साथ रहनेके नियमरूप व्याप्तिक्रियाका जो कर्म हो वह व्याप्य होता है, क्योंकि यह व्याप्य शब्द विपूर्वक आप् धातुसे कर्ममें ण्यत् प्रत्ययके करनेसे सिद्ध हुआ है। ऐसा व्याप्य धूमादिक ही हो सकता है। इसी व्याप्त होनेरूप क्रियामें जो व्याप्तिक्रियाका कर्ता हो उसको व्यापक कहते हैं, क्योंकि यह व्यापक शब्द विपूर्वक आप् धातुसे कर्तामें ण्वुल् प्रत्ययके करनेसे सिद्ध होता है। इससे अग्नि धूमको व्याप्त करके रहती है। जहां जहां धूम होगा वहां वहां नियमसे अग्नि होती है। अत एव सभी धूमयुक्त स्थानोंमें नियमसे अग्नि देखनेमें आती है। अग्निको धूम इस प्रकार व्याप्त नहीं करता, क्योंकि अङ्गार अवस्थाकी अग्नि धूमके विना ही देखनेमें आती है। इस लिये यह असम्भव है कि जहांपर अग्नि हो वहां नियमसे धूम हो।

नन्वार्द्रेन्धनमग्निं व्याप्नोत्येव धूम इति चेद् ओमिति ब्रूमहे। यत्र यत्राविच्छिन्नमूलो धूमस्तत्र तत्राग्निरिति यथा

तथैव यत्र यत्रार्द्रेन्धनोऽग्निस्तत्र तत्र धूम इत्यपि सम्भवात्। वह्निमात्रस्य तु धूमविशेषं प्रति व्यापकत्वमेव, अनुमातुस्तावन्मात्रापेक्षत्वात्। ततो यो यो धूमवानसावसावग्निमान्, यथा महानस इत्येवं सम्यग्दृष्टान्तवचनं वक्तव्यम्। विपरीतवचनं तु दृष्टान्ताभास एवेत्ययमसम्यग्वचनरूपोऽन्वयदृष्टान्ताभासः। व्यतिरेकव्याप्तौ तु व्यापकस्याग्नेरभावो व्याप्यः, व्याप्यस्य धूमस्याभावो व्यापकः। तथा सति यत्र यत्राग्न्यभावस्तत्र तत्र धूमाभावो, यथा ह्रद इत्येवं वक्तव्यम्। विपरीतकथनं त्वसम्यग्वचनत्वादुदाहरणाभास एव। अन्वयव्याप्तौ व्यतिरेकदृष्टान्तवचनं, व्यतिरेकव्याप्तावन्वयदृष्टान्तवचनं चोदाहरणाभासौ। स्पष्टमुदाहरणम्।

यदि यहांपर कोई यह कहै कि "जिस अग्निमें गीला ईंधन रहता है उस अग्निको तो धूम अवश्य ही व्याप्त करता है" तो हम इसको स्वीकार करते हैं। क्योंकि जिस तरह यह कह सकते हैं कि "जहां जहां अविच्छिन्नमूल अर्थात् जिसका मूल टूटा नहीं हो ऐसा धूम रहता हो वहां वहां नियमसे अग्नि रहती है उसी प्रकार यह भी कह सकते हैं कि "जहां जहां गीले ईंधनसे युक्त अग्नि है वहां वहां नियमसे धूम रहता है। परन्तु सामान्यदृष्टिसे यदि अग्नि देखा जाय तो धूमके प्रति व्यापक ही है, क्योंकि अनुमान करनेवालेको केवल सामान्य अग्नि तथा धूम ही अपेक्षित है। इसलिये जो जो धूमवान् होता है वह वह अग्निमान् होता है, जैसे, महानस। इस प्रकारके सम्यग्दृष्टान्तको कहना चाहिये। इससे जो विपरीत वचन हो वह दृष्टान्ताभास है। इसलिये इस प्रकारके असत्यवचनको अन्वयदृष्टान्ताभास कहते हैं। व्यतिरेकव्याप्तिमें व्यापकरूप अग्निके अभावको व्याप्य कहते हैं और व्याप्य धूमादिकके अभावको व्यापक कहते हैं। इसलिये

यहांपर जहां जहां अग्नि नहीं है वहां वहां धूम भी नहीं है, जैसे तालावमें, इस प्रकार कहना चाहिये । इससे विपरीत कथन असम्यग्वचन होनेसे उदाहरणाभास होजाता है । अन्वयव्याप्तिमें व्यतिरेकदृष्टान्तका कहना और व्यतिरेकव्याप्तिमें अन्वयदृष्टान्तका कहना उदाहरणाभास हैं । इस प्रकार उदाहरणका निरूपण किया ।

ननु गर्भस्थः श्यामो मैत्रतनयत्वात्साम्प्रतमैत्रतनयवदित्याद्यनुमानप्रयोगे पञ्चसु मैत्रतनयेष्वन्वयदृष्टान्तेषु यत्र यत्र मैत्रतनयत्वं तत्र तत्र श्यामत्वमित्यन्वयव्याप्तेः, व्यतिरेकदृष्टान्तेषु गौरेष्वमैत्रतनयेषु सर्वत्र यत्र यत्र श्यामत्वं नास्ति तत्र तत्र मैत्रतनयत्वं नास्तीति व्यतिरेकव्याप्तेश्च सम्भवान्निश्चितसाधने गर्भस्थमैत्रतनये पक्षे साध्यभूतश्यामत्वसन्देहस्य गुणत्वात्सम्यगनुमानं प्रसज्येतेति चेन्न ।

(शङ्का) मैत्रका गर्भस्थ पुत्र श्याम है; क्योंकि वह भी मैत्रके वर्तमान पुत्रोंकी तरह मैत्रका ही पुत्र है । इत्यादि अनुमानके प्रयोगमें अन्वयदृष्टान्तरूप पांचो मैत्रपुत्रोंमें जहां जहां मैत्रपुत्रत्व है वहां वहां श्यामत्व है इस प्रकार अन्वयव्याप्तिका निश्चय है। व्यतिरेकदृष्टान्तभूत गौर पुत्रोंमें जो कि मैत्रके पुत्र नहीं है, उन सभीमें जहां जहां श्यामत्व नहीं है वहां मैत्रपुत्रत्व भी नहीं है इस प्रकार व्यतिरेकव्याप्तिका भी सम्भव है । इसलिये गर्भस्थ मैत्रपुत्ररूप पक्षमें साधनका निश्चय है परन्तु साध्यभूत श्यामत्वका सन्देह है, इस लिये यह सत्य प्रसंग होनेके कारण समीचीन अनुमान होजायगा । (समाधान) यह ठीक नहीं है क्योंकिः—

दृष्टान्तस्य विचारान्तरबाधितत्वात् । तथा हि, साध्यत्वेनाभिमतमिदं हि श्यामरूपं कार्यं सत् स्वसिद्धये कारणमपेक्षते ।

तच्च कारणं न तावन्मैत्रतनयत्वं विनापि तदिदं पुरुषान्तरे श्यामत्वदर्शनात् । न हि कुलालचक्रादिकमन्तरेणापि सम्भविनः पटस्य कुलालादिकं कारणम् । एवं मैत्रतनयत्वस्य श्यामत्वं प्रत्यकारणत्वे निश्चिते यत्र यत्र मैत्रतनयत्वं न तत्र तत्र श्यामत्वं किन्तु यत्र यत्र श्यामत्वस्य कारणं विशिष्टनामकर्मानुगृहीतशाकाद्याहारपरिणामस्तत्र तत्र तस्य कार्यं श्यामत्वमिति सामग्रीरूपस्य विशिष्टनामकर्मानुगृहीतशाकाद्याहारपरिणामस्य श्यामत्वं प्रति व्याप्यत्वम् । स तु पक्षे न निश्चीयते इति सन्दिग्धासिद्धः । मैत्रतनयत्वं त्वकारणत्वादेव श्यामत्वं कार्यं न गमयेदिति ।

यह दृष्टान्त आगेके विचारसे इस प्रकार बाधित होजाता है कि श्यामरूप कार्य जो कि साध्य माना गया है, अपनी सिद्धिमें कारणकी अपेक्षा करता है । उसका कारण मैत्रतनयत्व नहीं हो सकता, क्योंकि मैत्रतनयत्वके विना भी दूसरे पुरुषोंमें अर्थात् जो मैत्रके पुत्र नहीं हैं, श्यामता देखनेमें आती है। जिस प्रकार कुँभार, चाक आदिके विना ही उत्पन्न होनेवाले वस्त्रका कारण कुंभार आदि नहीं होते, उसी प्रकार श्यामताका कारण मैत्रतनयत्व नहीं हो सकता यह निश्चय है। इसलिये यह नियम नहीं है कि जहां जहां मैत्रतनयत्व हो वहां वहां नियमसे श्यामता हो। किन्तु जहां जहांपर एक प्रकारके नामकर्मके उदयसे, प्राप्त शाकादिकका आहाररूप परिणाम श्यामताका कारण होगा अर्थात् श्यामताका अभ्यन्तरकारण श्यामवर्ण नामक नामकर्मका उदय और बाह्य कारण शाकादिका आहार हो सकता है, वह जहां होगा वहां वहां नियमसे उसका कार्य श्यामत्व अवश्य होगा । इसलिये सामग्रीरूप नामकर्मविशेषसे फलित शाकादिका आहाररूप परिणाम ही श्यामत्वके प्रति व्याप्य है, परन्तु उसका पक्षमें निश्चय

नहीं है, इसलिये यह (शाकाद्याहारपरिणामरूप) हेतु सन्दिग्धासिद्ध है। और मैत्रतनयत्व तो श्यामताका कारण ही नहीं है, अत एव वह अपने कार्यभूत श्यामताका अनुमान भी नहीं करा सकता है।

केचिन्निरुपाधिकसम्बन्धो व्याप्तिरित्यभिधाय साधनाव्यापकत्वे सति साध्यसमव्याप्तिरुपाधिरित्यभिधत्ते। सोऽयमन्योन्याश्रयः। प्रपञ्चितमेतदुपाधिनिराकरणे कारुण्यकलिकायामिति विरम्यते। साधनवत्तया पक्षस्य दृष्टान्तसाम्यकथनमुपनयः। तथा चायं धूमवानिति। साधनानुवादपुरस्सरं साध्यनियमवचनं निगमनम्। तस्मादग्निमानेवेति। अनयोर्व्यत्ययेन कथनमनयोराभासः। इत्यवसितमनुमानम्।

कोई "उपाधिरहित सम्बन्धका नाम व्याप्ति है," इस प्रकार व्याप्तिका लक्षण करके, उपाधिका लक्षण इस प्रकार करते हैं कि "साधनके साथ व्यापक न होकर जो साध्यके साथ व्यापक हो वह उपाधि है"। अर्थात् जो साधनके साथ तो नियमसे न रहै किन्तु साध्यके साथ अवश्य रहै उसको उपाधि कहते हैं। जैसे यह पर्वत धूमवान् है; क्योंकि यहांपर अग्नि है। यहां गीला ईंधन उपाधि है; क्योंकि गीला ईंधन साधनरूप अग्निके साथ नियमसे नहीं रहता किन्तु साध्यभूत धूमके साथ नियमसे रहता है। उनका यह सब लक्षण करना ठीक नहीं है; क्योंकि इसमें अन्योन्याश्रय दोष आता है। अर्थात् विना व्याप्तिका स्वरूप समझे उपाधिका स्वरूप समझमें नहीं आसकता और विना उपाधिका स्वरूप समझे व्याप्तिका स्वरूप समझमें नहीं आसकता। उपाधिका निराकरण करते समय प्रमाणकलिकामें इस विषयपर विस्तारपूर्वक विचार किया है, इसलिये हम यहांपर इसका विशेष वर्णन नहीं करना चाहते।

हेतुके रहनेकी अपेक्षासे पक्ष और दृष्टान्तमें सदृशताके दिखानेको उपनय कहते हैं। जैसे, यह भी उसीतरह धूमवान् है। हेतुको दिखाते हुए साध्यका सद्भाव दिखानेको अर्थात् प्रतिज्ञाके कहनेको निगमन कहते हैं। जैसे "इसलिये यह अग्निमान् ही है।" इन दोनोंके (उपनय, निगमन,) विपरीत कथनको आभास अर्थात् उपनयाभास और निगमनाभास कहते हैं। इस प्रकार अनुमानका निरूपण किया।

अथागमो लक्ष्यते। आप्तवाक्यनिबन्धनमर्थज्ञानमागमः। अत्रागम इति लक्ष्यम्। अवशिष्टं लक्षणम्। अर्थज्ञानमित्येतावदुच्यमाने प्रत्यक्षादावतिव्याप्तिः, अत उक्तं वाक्यनिबन्धनमिति। वाक्यनिबन्धनमर्थज्ञानमागम इत्युच्यमानेऽपि यादृच्छिकसंवादिषु विप्रलम्भवाक्यजन्येषु सुप्तोन्मत्तादिवाक्यजन्येषु वा नदीतीरफलसंसर्गादिज्ञानेष्वतिव्याप्तिः। अत उक्तमाप्तेति। आप्तवाक्यनिबन्धनज्ञानमित्युच्यमानेऽपि, आप्तवाक्यकर्मके श्रावणप्रत्यक्षेऽतिव्याप्तिः, अत उक्तमर्थेति। अर्थस्तात्पर्यरूप इति यावत्। तात्पर्यमेव वचसीत्यभियुक्तवचनात्। तत आप्तवाक्यनिबन्धनमर्थज्ञानमित्युक्तमागमलक्षणं निर्दोषमेव।

आगे आगमका लक्षण कहते हैं। आप्तके वाक्यसे उत्पन्न होनेवाले अर्थज्ञानको आगम कहते हैं। यहांपर आगम लक्ष्य है, और 'आप्तके वाक्यसे होनेवाला अर्थज्ञान' इतना लक्षण है। यदि केवल "अर्थज्ञानत्व" को ही आगमका लक्षण माना जाय तो प्रत्यक्षादिकमें अतिव्याप्ति आती है; क्योंकि वह अर्थका ज्ञान तो है परन्तु आगम नहीं है। क्योंकि आगमको परोक्षके भेदोंमें गिना है। इसलिये 'वाक्यरूप निमित्तसे' इतना विशेष कहा। 'वाक्यनिमित्तसे होनेवाले अर्थज्ञानको

आगम कहते हैं'। ऐसा लक्षण करने पर भी इच्छानुसार बोले हुए पूर्वावर असम्बद्ध वाक्यके द्वारा तथा ठगाईके वाक्योंसे होने वाले ज्ञानमें एवं सोते हुए तथा पागल मनुष्यके वचनोंसे उत्पन्न होनेवाले ज्ञानमें अथवा "नदीके तीरपर फल हैं बालको दौड़ो" इत्यादि वाक्यसे उत्पन्न होनेवाले ज्ञानमें अतिव्याप्ति आती है; क्योंकि यह ज्ञान वाक्यके द्वारा हुआ है और अर्थको विषय भी करता है किन्तु आगमरूप नहीं है। इसलिये उक्त लक्षणमें 'आप्त' इतना अधिक शब्द कहा है। 'आप्तके वाक्यद्वारा होनेवाले ज्ञानमात्रको आगम कहते हैं'। ऐसा लक्षण करने पर भी आप्तके वाक्योंका जो केवल श्रावण प्रत्यक्ष होता है कि यह अमुक शब्द है, उसमें अतिव्याप्ति आती है; क्योंकि उसमें उक्त आगमका लक्षण तो घटित होगया किन्तु वह यथार्थमें आगम नहीं है। इसलिये लक्षणमें 'अर्थ' इतना और कहा है। यहांपर अर्थ शब्द बोलनेसे इसका अर्थ तात्पर्य समझना चाहिये। क्योंकि आचार्योंने ऐसा कहा है कि "वचनमें तात्पर्य ही ग्राह्य होता है"। इसलिये "आप्तवाक्यरूप कारणसे होनेवाले तात्पर्य ज्ञानको आगम कहते हैं" यह आगमका लक्षण निर्दोष है।

यथा "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" इत्यादिवाक्यार्थज्ञानम्। सम्यग्दर्शनादीन्यनेकानि मोक्षस्य सकलकर्मक्षयस्य मार्ग उपायो, न तु मार्गाः। ततो भिन्नलक्षणानां दर्शनादीनां त्रयाणां समुदितानामेव मार्गत्वं, न तु प्रत्येकमित्ययमर्थः। मार्ग इत्येकवचनप्रयोगस्तात्पर्यसिद्धः, अयमेव वाक्यार्थः। अत्रैवार्थे प्रमाणसाध्यसंशयादिनिवृत्तिः प्रमितिः।

जैसे "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" इस वाक्यका तात्पर्यज्ञान यह है कि सम्यग्दर्शनादिक अनेक होनेपर भी मोक्षका अर्थात् सम्पूर्ण कर्मोंके क्षयका मार्ग अर्थात् उपाय एक ही है, अनेक नहीं। भावार्थ इससे यह सिद्ध हुआ कि भिन्न भिन्न

लक्षणसे युक्त सम्यग्दर्शनादिक तीनोंका समुदाय ही मोक्षका मार्ग है, प्रत्येक नहीं। यह तात्पर्य, मार्गशब्दके आगे जो एक वचनका प्रयोग किया है उससे सिद्ध होता है। इसीको वाक्यार्थ कहते हैं। इस आगम प्रमाणमें इसी आगम-प्रमाण द्वारा साध्य किये हुए विषयमें संभव होनेवाले संशयादिकी निवृत्ति होना वह प्रमिति समझनी चाहिये।

कः पुनरयमाप्त इति चेदुच्यते। आप्तः प्रत्यक्षप्रमितसकलार्थत्वे सति परमहितोपदेशकः। प्रमितेत्यादावेवोच्यमाने श्रुतकेवलिष्वतिव्याप्तिः, तेषामागमप्रमितसकलार्थत्वात्। अत उक्तं प्रत्यक्षेति। प्रत्यक्षप्रमितसकलार्थ इत्येतावदुच्यमाने सिद्धेष्वतिव्याप्तिः, अत उक्तं परमेत्यादि। परमं हितं निःश्रेयसम्। तदुपदेश एव अर्हतः प्रामुख्येन प्रवृत्तिः। अन्यत्र तु प्रश्नानुरोधादुपसर्जनत्वेनेति भावः। नैवंविधः सिद्धपरमेष्ठी, तस्यानुपदेशकत्वात्। ततोऽनेन विशेषणेन तत्र नातिव्याप्तिः। आप्तसद्भावे प्रमाणमुपन्यस्तम्। नैयायिकाद्यभिमतानामाप्ताभासानामसर्वज्ञत्वात्प्रत्यक्षप्रमितेत्यादिविशेषणेनैव निरासः।

आप्त किसको कहते हैं? जो प्रत्यक्ष ज्ञानके द्वारा सम्पूर्ण पदार्थोंको यथार्थ जानकर उत्कृष्ट हितका उपदेश देनेवाला हो उसको आप्त कहते हैं। यदि यथार्थ जानकर हितकारी उपदेश कहनेवालेको ही आप्त कहा जाय, तो श्रुतकेवलीमें अतिव्याप्ति आती है, क्योंकि उन्होंने आगमके द्वारा सम्पूर्ण पदार्थोंको यथार्थरूपसे जाना है। इसलिये 'प्रत्यक्ष ज्ञानके द्वारा' इतना और भी कहा। यदि 'प्रत्यक्ष ज्ञानके द्वारा सम्पूर्ण पदार्थोंके यथार्थ ज्ञाता' इतना ही आप्तका लक्षण किया जाय तो सिद्धोंमें अतिव्याप्ति-दोष आता है। क्योंकि प्रत्यक्ष ज्ञानसे सम्पूर्ण पदार्थोंको वे भी यथार्थ जानते हैं। इसलिये "उत्कृष्ट हितका उपदेश देनेवाला" इतना और अधिक

कहा क्योंकि उपदेश देनेवाले मुख्यतया अर्हन्त ही हैं। बाकीके दूसरे छद्मस्थ आचार्यादिको जो उपदेशक माना जाता है वह गौण है; क्योंकि वे दूसरोंके प्रश्न के आश्रयसे उत्तर देते हैं। परन्तु सिद्धपरमेष्ठी स्वयं अथवा दूसरेके प्रश्नवश भी किसीको उपदेश नहीं देते, इसलिये उक्त विशेषणके (उत्कृष्ट हितका उपदेश देनेवाले) कहनेसे सिद्धोंमें अतिव्याप्ति नहीं आती। इस प्रकार आप्तके सद्भावमें प्रमाण दिखाया। नैयायिकादिकोंके द्वारा माने हुए झूठे आप्तोंमें यह आप्त लक्षण इसी लिये नहीं संभवता कि वे असर्वज्ञ हैं और हम "प्रत्यक्ष ज्ञानके द्वारा सम्पूर्ण पदार्थोंके यथार्थ जाननेवाले" को ही आप्त कहते हैं।

ननु नैयायिकाभिमत आप्तः कथं न सर्वज्ञः? इति चेदुच्यते। तस्य ज्ञानस्यास्वप्रकाशकत्वादेकत्वाच्च विशेषणभूतं स्वकीयं ज्ञानमेव न जानातीति तद्विशिष्टमात्मानं सर्वज्ञोऽहमिति कथं जानीयात्? एवमनात्मज्ञोयमसर्वज्ञ एव। प्रपञ्चितं च सुगतादीनामाप्ताभासत्वमाप्तमीमांसाविवरणे श्रीमदाचार्यपादैरिति विरम्यते। वाक्यं तु तन्त्रान्तरसिद्धमिति नेह लक्ष्यते।

यदि यहांपर कोई यह शङ्का करे कि नैयायिकोंका माना हुआ आप्त सर्वज्ञ क्यों नहीं है? तो उसका उत्तर यही है कि उस (नैयायिक)ने अपने ज्ञानको स्वप्रकाशक नहीं माना है और फिर भी एक माना है, इसलिये वह आप्त जब विशेषणभूत अपने ज्ञानको ही नहीं जान सकता हो, तो उस ज्ञानसे युक्त अपने आत्माको इस प्रकार किसतरह जान सकता है कि "मैं सर्वज्ञ हूं"। इसलिये जब वह आत्माको भी नहीं जान सकता तो स्पष्ट ही वह असर्वज्ञ है। बुद्धादिकोंकी असर्वज्ञताका वर्णन आप्तमीमांसाविवरणमें आचार्योंने अच्छी तरह किया है, इसलिये हम अब

उसका यहां वर्णन नहीं करते। वाक्यका स्वरूप भी ग्रन्थान्तरोंसे सिद्ध है, इसलिये उसका भी स्वरूप यहां नहीं दिखाते।

अथ कोयमर्थो नाम? उच्यते। अर्थोऽनेकान्तः। अर्थ इति लक्ष्यनिर्देशः, अभिधेय इति यावत्। अनेकान्त इति लक्षण-कथनम्। अनेके अन्ता धर्माः सामान्यविशेषपर्याया गुणा यस्येति सिद्धोऽनेकान्तः। तत्र सामान्यमनुवृत्तस्वरूपम्, तद्धि घटत्वं पृथुबुध्नोदराकारः, गोत्वमिति सास्नादिमत्वमेव। तस्मान्न व्यक्तितोत्यन्तमन्यन्नित्यमेकमनेकवृत्ति।

अर्थ (विषय) किसको कहते हैं? जो अनेकान्तस्वरूप हो उसको अर्थ कहते हैं। यहांपर अर्थ जिसको अभिधेय भी कहते हैं, लक्ष्य है, और अनेकान्तत्व उसका लक्षण है। जिसमें अनेक अन्त, अर्थात् सामान्य विशेष पर्याय और गुणरूप धर्म पाये जायं उसको अनेकान्त कहते हैं। अनेक पदार्थोंके सदृश स्वरूपको सामान्य कहते हैं। जैसे घटत्व। घटके उदर स्थानपर फूला हुआ आकार वगैरह जो होता है वही घटत्वसामान्य समझना चाहिये। इसी प्रकार अनेक गौओंके गलेमें लटकते हुए चमड़ाको सास्ना कहते हैं, उस सास्नाआदिके होनेको ही गोत्वसामान्य कहते हैं। इसलिये सामान्यका स्वरूप जो नैयायिक यह कहते हैं, 'कि वह सामान्य व्यक्तिसे सर्वथा भिन्न, नित्य, एक और अनेकोंमें रहनेवाला है।' सो ठीक नहीं है।

अन्यथा "न याति न च तत्रास्ते न पश्चादस्ति नाशवत्। जहाति पूर्वं नाधारमहो व्यसनसन्ततिः॥ १॥" इति दिङ्नागदूषणदूषितगणप्रसरप्रसङ्गात्। पृथुबुध्नोदराकारादिदर्शनानन्तरमेव घटोऽयं गौरयमित्याद्यनुवृत्तप्रत्ययसम्भवात्। विशेषोऽपि स्थूलोयं घटः सूक्ष्म इत्यादिव्यावृत्तप्रत्ययावलम्बनं

घटादिस्वरूपमेव । तथा चाह भगवान्माणिक्यनन्दिभट्टारकः "सामान्यविशेषात्मा तदर्थः" इति ।

यदि सामान्यको व्यक्तिसे सर्वथा, भिन्न नित्य, एक, अनेकोंमें रहनेवाला ही माना जाय तो "घटादिकी उत्पत्तिके समय वह सामान्य न तो कहींसे आता ही है, और न वहांपर रहता ही है, तथा घटका नाश होनेपर नष्ट भी नहीं होता, एवं घटका नाश होनेपर घटरूप पहले आधारको छोड़कर कहीं जाता भी नहीं, यह सब दोषोंका समूह दुर्निवार हो जाता है" इत्यादि दिङ्नागाचार्यके दिये हुए अनेक दूषणगणका आना दुर्निवार हो जावेगा । जिस समय घटके उदरस्थानपर फूले हुए आकारादिको देखते हैं, उसके ठीक पीछेके समयमें ही यह घट है अथवा यह गौ है इस प्रकार सामान्यका ज्ञान होता है । इसी प्रकार विशेष भी, जिसके आलम्बनसे यह घट बड़ा है अथवा यह घट छोटा है इत्यादि विलक्षण ज्ञान होता है, घटादिकका ही स्वरूप है । इसी लिये भगवान् माणिक्यनन्दी भट्टारकने यह कहा है कि "सामान्य और विशेष स्वरूपात्मक पदार्थ ही ज्ञानका विषय है" ।

पर्यायो द्विविधः, अर्थपर्यायो व्यञ्जनपर्यायश्चेति । तत्रार्थपर्यायो भूतत्वभविष्यत्त्वसंस्पर्शरहितशुद्धवर्तमानकालत्वावच्छिन्नं वस्तुस्वरूपम् । तदेतदृजुसूत्रनयविषयमामनन्त्यभियुक्ताः । एतदेकदेशावलम्बिनः खलु सौगताः क्षणिकवादिनः । व्यञ्जनं व्यक्तिः, प्रवृत्तिनिवृत्तिनिबन्धनजलानयनाद्यर्थक्रियाकारित्वम् । तेनोपलक्षितः पर्यायो व्यञ्जनपर्यायो—मृदादेः पिण्डस्थासकोशकुसूलघटकपालादयः पर्यायाः ।

पर्यायके दो भेद हैं, एक अर्थपर्याय दूसरा व्यञ्जनपर्याय । जो भूत और भविष्यत्कालका स्पर्श न करनेवाला केवल शुद्ध वर्त-

मानकालवर्ती वस्तुस्वरूप है उसको अर्थपर्याय कहते हैं। इसीको आचार्योंने ऋजुसूत्रनयका विषय कहा है। इसी वस्तुके एक देशका अवलम्बन करनेसे बौद्धमतावलम्बी क्षणिकवादी कहे जाते हैं। जिससे प्रवृत्ति निवृत्तिके लिये कारणभूत जलाहरणादिक प्रयोजन साधक क्रिया होसके उसको व्यञ्जन अथवा व्यक्ति कहते हैं, और इससे युक्त जो पर्याय उसको व्यञ्जनपर्याय कहते हैं। जैसे मिट्टीके स्थास कोश कुसूल घट कपालादिरूप व्यञ्जनपर्याय हैं। जिस तरह घटादिक दृष्टान्त, पुद्गलद्रव्यसंबंधी कहे उसी तरह आत्मादिक अन्य द्रव्योंके भी दृष्टान्त समझलेना चाहिये।

यावद्द्रव्यभाविनः सकलपर्यायानुवर्तिनो गुणाः। वस्तुत्वरूपरसगन्धस्पर्शादयः। मृद्द्रव्यसम्बन्धिनो हि वस्तुत्वादयः पिण्डादिपर्यायाननुवर्तन्ते, न तु पिण्डादयः स्थासादीन्। तत एव पर्यायाणां गुणेभ्यो भेदः। यद्यपि सामान्यविशेषौ पर्यायौ तथापि सङ्केतग्रहणनिबन्धनस्य शब्दव्यवहारविषयत्वा-(दा)गमप्रस्तावे तयोः पृथङ्निर्देशः। तदनयोर्गुणपर्याययोर्द्रव्यमाश्रयः "गुणपर्ययवद् द्रव्यम्" इति आचार्यानुशासनात्। तदपि सत्त्वमेव "सत्त्वं द्रव्यम्" इत्याकरजवचनात्।

जो द्रव्यके सम्पूर्ण प्रदेशोंमें रहते हैं तथा जिनका अनुवर्तन सम्पूर्णपर्यायोंमें होता है उनको गुण कहते हैं। जैसे वस्तुत्व, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श इत्यादि। वस्तुत्वादिक गुण मिट्टीके सम्पूर्ण प्रदेशोंमें रहते हैं और पिण्डादिक उत्तरोत्तर पर्यायोंमें उनका अनुगमन भी होता है, इसलिये इनको गुण कहते हैं। किन्तु पिण्डादिक पर्यायोंका स्थासादिक पर्यायोंमें ऐसा अन्वय नहीं होता इसलिये इनको गुण नहीं कहते। इसीलिये गुण और पर्यायोंमें परस्पर भेद है। यद्यपि सामान्य और विशेष ये दोनों पर्याय ही हैं; तथापि जिस पदार्थमें जिस शब्दके इस नियमानुसार

सङ्केतका ग्रहण हो चुका है, वह शब्द उसी पदार्थका व्यवहार कराता है। इस आगममें उक्त दोनोंका जुदा जुदा निरूपण किया है। उक्त गुण और पर्याय दोनोंका ही आश्रय द्रव्य है; क्योंकि आचार्योंने ऐसा कहा है कि 'जिसमें गुण और पर्याय पाये जायं वह द्रव्य है।' इसी द्रव्यका दूसरा स्वरूप सत्व भी कहा है; क्योंकि सिद्धांतमें ऐसा कहा है कि भाव और भाववान् इन दोनोंमें अभेद विवक्षा रखनेसे सत्त्वरूप ही द्रव्य है।

तदपि जीवद्रव्यमजीवद्रव्यं चेति सङ्क्षेपतो द्विविधम्। द्वयमप्येतदुत्पत्तिविनाशस्थितियोगि "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्" इति निरूपणात्। तथा हि, जीवद्रव्यस्य स्वर्गप्रापकपुण्योदये सति मनुष्यस्वभावस्य व्ययः, देव स्वभावस्योत्पादः, चैतन्यस्वभावस्य ध्रौव्यमिति, जीवद्रव्यस्य सर्वथैकान्तरूपत्वे पुण्योदयवैफल्यप्रसङ्गात्। सर्वथा भेदे पुण्यवानन्यः फलवानन्य इति पुण्यसम्पादनवैयर्थ्यप्रसङ्गात् परोपकारस्याप्यात्मसुकृतार्थमेव प्रवर्त्तमानत्वात्। तस्माज्जीवद्रव्यरूपेणाभेदः। मनुष्यपर्यायदेवपर्यायरूपेण भेद इति प्रतिनियतनयनिरस्तविरोधौ भेदाभेदौ प्रामाणिकावेव।

उस द्रव्यके भी जीवद्रव्य और अजीवद्रव्य इस प्रकार सङ्क्षेपसे दो भेद हैं। इन दोनोंमें ही उत्पत्ति विनाश स्थिति ये तीनों स्वभाव पाये जानेसे इनमें द्रव्यका लक्षण संभव होता है। आगममें ऐसा ही कहा है कि 'सत्, सदा उत्पाद व्यय और ध्रौव्यसे युक्त रहता है।' जैसे कि स्वर्गकी प्राप्ति करानेवाले पुण्यकर्मका उदय होनेपर जीवद्रव्यमें मनुष्यस्वभावका व्यय, और देवस्वभावका उत्पाद तथा चैतन्यस्वभावका ध्रौव्य भी है। जीवद्रव्यको यदि सर्वथा एकस्वरूप माना जाय तो पुण्योदयसे कुछ भी प्रयोजन सिद्ध न हो, क्योंकि, जो वस्तु सर्वथा

एकरूप हो उसमें कोई विशेष निमित्त मिलनेसे भी क्या विकार हो सकता है, और यदि निमित्त मिलनेपर कुछ फेर-फार किसी वस्तुमें हो जाय तो वह सर्वथा एकरूप कैसा? इसी प्रकार यदि मनुष्यस्वभाव और देवस्वभावको सर्वथा भिन्न ही माना जायगा तो भी यह दोष स्पष्ट है कि पुण्य संपादनकर्ता अन्य हुआ और फलभोक्ता अन्य; क्योंकि पुण्यका उपार्जन करनेवाला है मनुष्यपर्यायपरिणत जीव और फलभोगनेवाला है देवरूपजीव। ऐसा माननेसे भी पुण्यका सम्पादन करना व्यर्थ ही है। यदि पुण्य संपादन करना दानादिकी तरह केवल परोपकारार्थ ही माना जाय सो भी ठीक नहीं, क्योंकि, जो लोग परोपकार करनेमें प्रवृत्त होते हैं वे भी अपने पुण्यबन्धरूप स्वार्थके लिये ही प्रवृत्त होते हैं। इस लिये जीवद्रव्यकी अपेक्षा अभेद है, किन्तु मनुष्यपर्याय और देवपर्यायकी अपेक्षा भेद मानना ही चाहिये, क्योंकि जिनमेंसे प्रतिनियत द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयोंके द्वारा विरोधादिक दोष दूर हो गये हैं ऐसे भेदाभेद प्रमाण ही हैं।

तथैवाजीवद्रव्यस्य मृद्द्रव्यस्यापि मृदः पिण्डाकारस्य व्ययः, पृथुबुध्नोदराकारस्योत्पादः, मृद्रूपस्य ध्रुवत्वमिति, सिद्धमुत्पादादियुक्तत्वमजीवस्य। स्वामिसमन्तभद्राचार्याभिमतमतानुसारी वामनोपि सदुपदेशात्प्राक्तनमज्ञानस्वभावं हन्तुमुपरितननयमर्थज्ञानस्वभावं स्वीकर्तुं च यः समर्थ आत्मा स एव शास्त्राधिकारीत्याह "न शास्त्रमसद्द्रव्येष्वर्थवत्" इति। तदेवमनेकान्तात्मकं वस्तु प्रमाणवाक्यविषयत्वादर्थत्वेनावतिष्ठते। तथा च प्रयोगः, सर्वमनेकान्तात्मकं, सत्त्वात्, यदुक्तसाध्यं न तन्नोक्तसाधनं यथा गगनारविन्दमिति।

इसी प्रकार अजीव द्रव्यमें भी समझलेना चाहिये, जैसे मिट्टी-

रूप मिट्टीमें पिण्डाकार मिट्टीका जिस समय व्यय होता है, उसी समय घटाकार मिट्टीका उत्पाद, और मिट्टीके स्वरूपका ध्रौव्य है। इससे अजीवद्रव्योंमें भी उत्पादादिक तीनों सिद्ध होते हैं। स्वामी समन्तभद्राचार्यके इष्ट मतका अनुसरण करनेवाला वामनाचार्य भी यही कहता है कि सदुपदेशसे पूर्वके अज्ञानस्वभावको दूर करनेके लिये तथा आगे वस्तुके आपेक्षिक ज्ञानस्वरूप नयोंको ग्रहण करनेके लिये जो आत्मा समर्थ है, वही शास्त्रका अधिकारी है। उनके यहांका यह सूत्र है कि "न शास्त्रमसद्द्रव्येष्वर्थवत्"। अर्थात् जो आत्मद्रव्य अज्ञानको दूर करने और नयात्मक ज्ञानके उपार्जनमें समर्थ नहीं है, उसमें शास्त्रका कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। इससे अनेकान्तात्मक वस्तु ही यथार्थ वस्तु है यह सिद्ध होता है; क्योंकि, अनेकान्तात्मक वस्तु ही प्रमाणवाक्यसे कहा जा सकता है। अनुमान भी इस प्रकार हो सकता है कि सम्पूर्ण वस्तु अनेकान्तस्वरूप हैं, क्योंकि वे सत्स्वरूप हैं। जो अनेकान्तस्वरूप नहीं है वे सत्स्वरूप भी नहीं है, जैसे आकाशका कमलपुष्प।

ननु यद्यप्यरविन्दं गगने नास्त्येव तथापि सरस्यस्तीति ततो न सत्त्वहेतुव्यावृत्तिश्चेत्तर्हि तदेतदरविन्दमधिकरणविशेषापेक्षया सदसदात्मकमनेकान्तमित्यन्वयदृष्टान्तत्वं भवत्वेव प्रतिपादितमिति सन्तोष्टव्यमायुष्मता। उदाहृतवाक्येनापि सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणां मोक्षकारणत्वमेव न संसारकारणत्वमिति विषयविभागेन कारणाकारणात्मकत्वं प्रतिपद्यते। सर्वं वाक्यं सावधारणमिति न्यायात्। एवं प्रमाणसिद्धमनेकान्तात्मकं वस्तु।

(शङ्का) यद्यपि कमल आकाशमें नहीं है तथापि सरोवरमें तो है। इसलिये कमलमें सत्व हेतुका जो अभी ऊपर निषेध किया

है वह ठीक नहीं है। (समाधान) यह कमल आधारविशेषकी अपेक्षा कथंचित् सद्रूप और कथंचित् असद्रूप है, अत एव अनेकान्तात्मक होनेके कारण उसको (कमलको) तुमने भी स्वयं अन्वयदृष्टान्तरूप तो मान ही लिया। इसलिये अब इस विषयमें आपको इतनेसे ही संतोष करना चाहिये। जिस वाक्यका पहले उदाहरण दिया था उस वाक्यसे भी यही निश्चय होता है कि सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र ये तीनों मोक्षके ही कारण हैं न कि संसारके, इस प्रकार विषयविभागकी अपेक्षा सम्यग्दर्शनादिकमें भी कारणपना तथा अकारणपना दोनों धर्म सिद्ध होते हैं। क्योंकि यह नियम है कि जितने वाक्य होते हैं वे सभी कुछ न कुछ अवधारण अवश्य करते हैं। जब कि कुछ न कुछ विशेष अवधि या नियम किया जायगा तो उससे शेष अंशका त्याग या निषेध भी अवश्य ही होगा। बस, यह प्रमाणद्वारा सिद्ध हुआ कि वस्तु अनेकान्तात्मक ही है।

नया विभज्यन्ते, ननु कोयं नयो नाम? उच्यते। प्रमाणगृहीतार्थैकदेशग्राही प्रमातुरभिप्रायविशेषो नयो "नयो ज्ञातुरभिप्रायः" इत्यभिधानात्। स नयः सङ्क्षेपेण द्वेधा द्रव्यार्थिकनयः पर्यायार्थिकनयश्चेति। तत्र द्रव्यार्थिकनयः द्रव्यपर्यायरूपमेकानेकात्मकमनेकान्तं प्रमाणप्रतिपन्नमर्थं विभज्य पर्यायार्थिकनयविषयस्य भेदस्योपसर्जनभावेनावस्थानमात्रमभ्यनुजानन्स्वविषयं द्रव्यमभेदमेव व्यवहारयति नयान्तरविषयसापेक्षः सन्नय इत्यभिधानात्।

अब नयोंका विभाग किया जाता है। उसमें पहले यही बताते हैं कि नय क्या चीज है। प्रमाणके द्वारा जाने हुए पदार्थके एक देशको विषय करनेवाले प्रमाताके विशेष अभिप्रायको (ज्ञानरूप) नय कहते हैं। क्योंकि ऐसा वाक्य है कि "ज्ञाताका अभि-

प्राय ही नय है"। उस नयके सङ्क्षेपसे दो भेद हैं । एक द्रव्यार्थिक नय, दूसरा पर्यायार्थिक नय। द्रव्यपर्यायस्वरूप और एकात्मक अनेकात्मक इत्यादि अनेक स्वभावमय पदार्थमेंसे, जिसका कि पहले प्रमाणज्ञानके द्वारा ग्रहण हो चुका है, विभाग करके पर्यायार्थिक नयके विषयभूत भेद या पर्यायको उदासीन रूपसे सत्मात्र जानता हुआ जो अभेदरूप अपने विषयभूत द्रव्य मात्रको मुख्यतासे विषय करता है उसको द्रव्यार्थिक नय कहते हैं। क्योंकि ऐसा कहा है कि "जो ज्ञान दूसरे नयके विषयकी अपेक्षा रखता है उसीको सन्नय अर्थात् सच्चा नय ज्ञान कहते हैं"।

यथा सुवर्णमानयेति । अत्र द्रव्यार्थिकनयाभिप्रायेण सुवर्णद्रव्यानयनचोदनायां कटकं कुण्डलं केयूरं चोपनयन्नुपनेता कृती भवति, सुवर्णरूपेण कटकादीनां भेदाभावात् । द्रव्यार्थिकनयमुपसर्जनीकृत्य प्रवर्तमानं पर्यायार्थिकनयमवलम्ब्य कुण्डलमानयेत्युक्ते न कटकादौ प्रवर्तते, कटकादिपर्यायस्य ततो भिन्नत्वात् । ततो द्रव्यार्थिकनयाभिप्रायेण सुवर्णं स्यादेकमेव । पर्यायार्थिकनयाभिप्रायेण स्यादनेकमेव । क्रमेणोभयनयाभिप्रायेण स्यादेकमनेकं च ।

जैसे सुवर्णको लाओ। यहां पर द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा प्रधान कर यदि कोई मनुष्य सुवर्ण लानेके लिये किसीसे कहै, तो कड़ा कुण्डल केयूर आदिमेंसे किसीके भी लेआनेपर लानेवाला कृतकार्य समझा जाता है। क्योंकि सुवर्णपनेकी अपेक्षा कड़े आदिकमें कोई भेद नहीं है। परन्तु जो द्रव्यार्थिक नयको गौण करके प्रवृत्त होनेवाले पर्यायार्थिक नयका अवलम्बन करता है वह यदि किसीसे कुण्डल लानेके लिये कहै तो लानेवाला कड़ा लानेमें प्रवृत्त नहीं होता; क्योंकि कड़ा आदि पर्यायें, कुण्डलसे भिन्न हैं। इसलिये द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे सुवर्ण

कथंचित् एक ही है और पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे कथंचित् अनेकरूप भी है। यदि क्रमसे दोनों नयोंकी अपेक्षा की जाय तो कथंचित् एक भी है और अनेक भी है।

युगपदुभयनयाभिप्रायेण स्यादवक्तव्यम्। युगपत्प्राप्तेन नयद्वयेन विविक्तस्वरूपयोरेकत्वानेकत्वयोर्विमर्शाभावात्। न हि युगपदुपनतेन शब्दद्वयेन घटस्य प्रधानभूतयो रूपत्वरसत्वयोर्विविक्तस्वरूपयोः प्रतिपादनं शक्यम्। तदेतदवक्तव्यस्वरूपं तत्तदभिप्रायैरुपनतेनैकत्वादिना समुचितं स्यादेकमवक्तव्यं, स्यादनेकमवक्तव्यं, स्यादेकानेकमवक्तव्यमिति स्यात्। सैषा नयविनियोगपरिपाटी सप्तभङ्गीत्युच्यते। भङ्गशब्दस्य वस्तुस्वरूपभेदवाचकत्वात्। सप्तानां भङ्गानां समाहारः सप्तभङ्गीति सिद्धेः।

एक कालमें दोनों स्वभावोंकी अपेक्षा प्रधानकर लक्ष्य करना सो कथंचित् अवक्तव्य नय है; क्योंकि भिन्न भिन्न स्वरूपवाले एकत्व और अनेकत्वका, एक कालमें दो शब्दोंके द्वारा उच्चारण तथा विचार नहीं हो सकता। यह संभव नहीं है कि घटके प्रधानभूत रूप और रस गुणका जिनका स्वरूप परस्परमें भिन्न है, एक कालमें दो शब्दोंके द्वारा प्रतिपादन हो सके यही अवक्तव्य नयका स्वरूप है। वस्तु सर्वथा ही अवक्तव्य नहीं है। यदि उसी समय भेदादि धर्मोंके अभिप्रायोंमेंसे किसी एक विवक्षित धर्मका भी प्रयोग किया जाय तो वह द्रव्य कथंचित् एक और अवक्तव्य है तथा अनेक और अवक्तव्य है। अर्थात् द्रव्यार्थिक नय और युगपत् दोनों नयोंके प्रयोगकी अपेक्षासे वस्तु एक और अवक्तव्य है। इसी प्रकार पर्यायार्थिक नय और युगपत् दोनों नयोंकी अपेक्षासे अनेक और अवक्तव्य है। इसी प्रकार दोनों नयोंकी क्रमसे और युगपत् प्रवृत्तिकी

अपेक्षा करनेपर वस्तु एक अनेक और अवक्तव्य है। इस प्रकार नयोंके लगाने या समझनेकी प्रक्रियाको ही सप्तभङ्गी कहते हैं। वस्तुके स्वरूपका भेद यहां पर भङ्ग शब्दका अर्थ है। क्योंकि सप्तभङ्गी शब्दकी सिद्धि इस प्रकार की है; कि सात भङ्गोंके समुदायको ही सप्तभङ्गी कहते हैं।

नन्वेकत्र वस्तुनि सप्तानां भङ्गानां कथं सम्भव इति चेत्, यथैकस्मिन् रूपवान् घटः रसवान् गन्धवान् स्पर्शवानिति पृथग्व्यवहारनिबन्धना रूपत्वादिस्वरूपभेदाः सम्भवन्ति तथैवेति सन्तोष्टव्यमायुष्मता। एवमेव परमद्रव्यार्थिकनयाभिप्रायविषयः परमद्रव्यसत्ता, तदपेक्षयैकमेवाद्वितीयं ब्रह्म, नेह नानास्ति किंचन, सद्रूपेण चेतनानामचेतनानां च भेदाभावात्, भेदे तु सद्विलक्षणत्वेन तेषामसत्त्वप्रसङ्गात्।

(प्रश्न) एक वस्तुमें सातों भङ्ग किस प्रकार सम्भव हो सकते हैं? (उत्तर) जिस प्रकार यह घट रूपवान्, रसवान्, गन्धवान् तथा स्पर्शवान् है, इस तरह एक ही घटमें भिन्न भिन्न व्यवहारके कारणभूत रूपत्वादिकका भेद सम्भव है उसी प्रकार सप्तभङ्गीमें भी आपको सन्तोष करना चाहिये। अर्थात् अनेक गुण या धर्मोंकी अपेक्षासे द्रव्यमें सप्तभङ्गीकी प्रवृत्ति होती है। इसी प्रकार परमद्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षाका विषय परमद्रव्य सत्ता है। इसीकी अपेक्षा एक अद्वितीय ब्रह्म ही है, उसके सिवा ये नाना पदार्थ कुछ नहीं हैं। क्योंकि सद्रूपकी (अस्तित्वकी) अपेक्षा चेतन या अचेतन पदार्थोंमें कोई भेद नहीं है। यदि अस्तित्वसे भी उनका भेद माना जाय तो एक सत्से दूसरा विलक्षण होनेके कारण वह असद्रूप (अभावरूप) ठहरने लगे।

ऋजुसूत्रनयस्तु परमपर्यायार्थिकः। स हि भूतत्वभविष्यत्त्वाभ्यामपरामृष्टं शुद्धवर्तमानकालावच्छिन्नं वस्तुरूपं परा-

मृशति । तन्नयाभिप्रायेण बौद्धाभिमतक्षणिकत्वसिद्धिः । एते नयाभिप्रायाः सकलस्वविषयाशेषात्मकमनेकान्तं प्रमाणविषयं विभज्य व्यवहारयन्ति ।

ऋजुसूत्र नय परम पर्यायार्थिक है, अर्थात् भूत और भविष्यत् कालकी अपेक्षा न करके शुद्धवर्तमानकालीन वस्तुरूपको विषय करता है । इसी नयकी अपेक्षासे बौद्धोंके माने हुए क्षणिकत्वकी सिद्धि होती है । नयोंकी ये अपेक्षायें उस प्रमाणके विषयका विभाग कर व्यवहारमें प्रवृत्त होते हैं कि जो प्रमाणका विषय सम्पूर्ण नयोंके विषयोंके समुदायस्वरूप है और अनेकान्तात्मक है । अर्थात् प्रमाण अनेक धर्मोंके समुदायरूप वस्तुके समुदाय और समुदायी ऐसे दोनों अंशोंमें प्रवृत्त होता है । और नय, प्रमाणद्वारा गृहीत वस्तुके एक देशमें प्रवृत्त होता है । इन्हीं नयोंमेंसे एक नयको गौण और एकको मुख्य करनेसे व्यवहारकी सिद्धि होती है । किन्तु वस्तु एक धर्मात्मक नहीं है जिससे सर्वथा एक धर्मको लेकर क्षणिकत्वादिककी सिद्धि हो जाय ।

स्यादेकमेव द्रव्यात्मना वस्तु, नो नाना । स्यान्नानैव पर्यायात्मना नैकमिति । तदेतत्प्रतिपादितमाचार्यसमन्तभद्रस्वामिभिः "अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः प्रमाणनयसाधनः । अनेकान्तः प्रमाणात्ते तदेकान्तोर्पितान्नयात् ॥ १ ॥" इति । अनियतानेकधर्मवद्वस्तुविषयत्वात्प्रमाणस्य नियतैकधर्मवद्वस्तुविषयत्वाच्च नयस्य । यद्येनामार्हतीं सरणिमुल्लङ्घ्य सर्वथैकमेवाद्वितीयं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन, कथञ्चिदपि नाना नेत्याग्रहः स्यात्तदेतदर्थाभासः । एतत्प्रतिपादकमतिवचनमागमाभासः, प्रत्यक्षेण सत्यं भिदा तत्वं भिदेत्यादिनागमेन च बाधितविषयत्वात् ।

द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे वस्तु कथंचित् एक ही है अनेक नहीं। पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे वस्तु अनेक ही है एक नहीं। इसीलिये आचार्य समन्तभद्रस्वामीने ऐसा कहा है कि, "प्रमाण और नयकी अपेक्षासे अनेकान्त भी अनेकान्तरूप है अर्थात् कहीं अनेकान्त है और कहीं एकान्त है। जहां प्रमाणकी अपेक्षा है वहां अनेकान्त है; क्योंकि वह अनियत सब धर्मोंसे संयुक्त अभेद वस्तुको विषय करता है। जहां नयकी अपेक्षा है वहां पर एकान्त है; क्योंकि वह नियत एक धर्मसे युक्त वस्तुको विषय करता है"। यदि इस जिनोक्त मार्गका उल्लङ्घन करके तुमको यही आग्रह है कि 'सर्वथा एक अद्वितीय ब्रह्म ही है और इसके सिवा भिन्न कुछ नहीं है और किसी प्रकार भी नहीं हो सकता' तो यह तुम्हारा अर्थाभास है और इसके प्रतिपादक वचन आगमाभास हैं। क्योंकि प्रत्यक्षसे तथा "सत्यं भिदा तत्वं भिदा" अर्थात् यह भेद सत्य है और वास्तविक है इस आगमके वचनसे पूर्वोक्त कथन बाधित होता है।

सर्वथा भेद एव न कथञ्चिदप्यभेद इत्यत्राप्येवमेव विज्ञेयं, सद्रूपेणापि भेदेऽसतः अर्थक्रियाकारित्वासम्भवात्। ननु प्रतिनियताभिप्रायगोचरतया पृथगात्मनां परस्परसाहचर्यानपेक्षायां मिथ्याभूतानामेकत्वादीनां धर्माणां साहचर्यलक्षणसमुदायोऽपि मिथ्यैवेति चेत्तदङ्गीकुर्महे, परस्परोपकार्योपकारकभावं विना स्वतन्त्रतया नैरपेक्ष्यापेक्षायां पटस्वभावविमुक्तस्य तन्तुसमूहस्य शीतनिवारणाद्यर्थक्रियावदेकत्वानेकत्वानामर्थक्रियायां सामर्थ्याभावात्कथञ्चिन्मिथ्यात्वस्यापि सम्भवात्।

यदि सर्वथा भेद ही माना जाय और किसी भी अपेक्षासे अभेद न माना जाय तो भी यही दोष आवेगा, क्योंकि सर्वथा भेद माननेसे सद्रूपके साथ भी भेद ठहरा और ऐसा होनेसे

पदार्थ असद्रूप हुआ और असद्रूप पदार्थ किसी प्रयोजनीभूत क्रियाको कर नहीं सकता।

(शङ्का) प्रतिनियत अपेक्षाका विषय होनेसे भिन्न भिन्न सिद्ध होनेवाले एकत्वादिक धर्म, परस्पर साहचर्यकी अपेक्षा न रखने पर यदि मिथ्या हुए तो इनका जो साहचर्यलक्षण समुदाय होगा वह भी मिथ्या ही ठहरेगा। (समाधान) हम इसको स्वीकार करते हैं। क्योंकि जिस प्रकार पटरूप अवस्थासे रहित तन्तुओंका समुदाय शीतनिवारणादिरूप इष्ट क्रिया नहीं कर सकता, उसी प्रकार परस्परमें उपकार्योपकारकभावके छोड़ देनेपर दूसरे नयोंसे निरपेक्ष रहकर स्वतन्त्ररूपसे एकत्वादिक धर्म इष्ट क्रियाको उत्पन्न नहीं कर सकते। इसलिये उन मिथ्या नयोंका समूह भी कथंचित् मिथ्या ही मानना चाहिये।

तदुक्तमाप्तमीमांसायां स्वामिसमन्तभद्राचार्यैः "मिथ्यासमूहो मिथ्याचेन्न मिथ्यैकान्ततास्ति नः। निरपेक्षा नया मिथ्याः सापेक्षा वस्तुतोऽर्थकृत् ॥ १ ॥" इति। ततो नयप्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धिरिति सिद्धः सिद्धान्तः। इति पर्याप्तमागमप्रमाणम्। इति तृतीयः प्रकाशः।

इति श्रीपरमार्हताचार्यधर्मभूषणयतिविरचिता
न्यायदीपिका समाप्ता।

इसी लिये स्वामी समन्तभद्राचार्यने आप्तमीमांसामें ऐसा कहा है कि "मिथ्या नयोंका समुदाय मिथ्या हो तो हो परंतु हमारी

'कथंचित् एकांतता' मिथ्या नहीं हो सकती है, क्योंकि जो नय निरपेक्ष हैं वे सब मिथ्या हैं और जो नय सापेक्ष हैं, वे सब वास्तवमें कार्यकारी हैं" । इससे नय और प्रमाणके द्वारा वस्तुकी सिद्धि होती है यह सिद्धान्त सिद्ध हुआ । इस प्रकार आगमप्रमाणका भी निरूपण किया ।

इस तरह यह श्रीधर्मभूषणयतिकी रची हुई
न्यायदीपिका समाप्त हुई ।